...उद्देश्य

...का संरक्षण तथा प्रसार।
...का विवेचन।
...का अनुसंधान।
...विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख स्वीकार्य होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है; और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक : कृष्णानंद

सहायक संपादक : पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५४]　　संवत् २००७　　[अंक ४

पाणिनिकालीन मनुष्य-नाम

[श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

मनुष्य-नाम और स्थान-नाम, ये नामों के दो बड़े जत्थे हैं। दोनों मनुष्य की भाषा के अंग हैं और दोनों से ही मनुष्य के भूतकालीन इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। पश्चिमी देशों में स्थानीय नामों का ब्योरेवार अध्ययन किया गया है जिससे जातियों की भाषा, फैलाव और रहन-सहन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भारतीय स्थान-नामों का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा, क्योंकि मुंडारी भाषा, द्रविड़ भाषा, आर्य भाषा और म्लेच्छ परिवार की भाषाओं ने स्थान-नामों की रचना में भाग लिया है। यहाँ हम केवल मनुष्य-नामों की चर्चा करना चाहते हैं।

भारतीय मनुष्य-नामों का इतिहास वैदिक काल से आरंभ होता है। नामों के विकास और परिवर्तन की दृष्टि से नीचे लिखी हुई सीढ़ियाँ मुख्य हैं—

१—ऋग्वैदिक नाम

२—उत्तर-वैदिक और ब्राह्मणकालीन नाम

३—बौद्ध पाली साहित्य और पाणिनिकालीन नाम

४—मौर्य, शुंग और कुषाणकालीन प्राकृत नाम

५—गुप्तकालीन एवं संस्कृत साहित्यगत नाम

६—अपभ्रंश भाषा, प्राकृत और संस्कृत साहित्य से प्राप्त मध्यकालीन नाम

७—आधुनिक नाम

इस प्रकार भारतीय मनुष्य-नामों का अध्ययन प्रत्येक युग के सांस्कृतिक इतिहास का ही एक टुकड़ा है। भाषा और धार्मिक एवं सामाजिक विश्वासों के अनुसार मातापिता बालक का नाम रखते हैं। नाम प्रत्येक मनुष्य के लिये बहुत ही प्रिय शब्द बन जाता है। प्रत्येक जीवन में वह सबसे अधिक व्यवहार में आनेवाला शब्द होता है। अतएव नामों में एक प्रकार की जातीय और वैयक्तिक सुरुचि, आस्था और संस्कृति की छाप पाई जाती है। चरक के अनुसार नाम दो प्रकार के होते हैं—नाक्षत्रिक नाम और आभिप्रायिक नाम (शारीर स्थान, अ० ८।५१)। जिस नक्षत्र में जन्म होता है उसके अनुसार रखा हुआ नाम (नक्षत्रदेवतासमानाख्यं) नाक्षत्रिक कहलाता है; जैसे, स्वाति नक्षत्र से स्वातिदत्त, जिसका छोटा रूप होगा स्वातिल। आभिप्रायिक नाम को ही पुकारने का सच्चा नाम कहना चाहिए; जैसे यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि।

ऋग्वेद के समय अधिकांश नाम केवल आभिप्रायिक थे। उनके साथ पिता से प्राप्त होनेवाला पैतृक नाम भी जुड़ा रहता था; जैसे मेधातिथि काण्व। कालांतर में गोत्रनाम की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के समय में जितने नाम मिलते हैं उनमें गोत्र-नाम का रिवाज बहुत अधिक है। उदाहरण के लिये बुडिल शार्कराक्ष्य, अर्थात् शार्कराक्ष गोत्र में उत्पन्न बुडिल। लगभग इसी समय गोत्रों की बहुत बड़ी बड़ी सूचियाँ संगृहीत हुईं। बौधायन श्रौतसूत्र में इस तरह की एक बृहत् गोत्र-सूची महाप्रवर कांड के नाम से पाई जाती है जिसके आधार पर पीछे मत्स्य पुराण में गोत्रों की सूची तैयार की गई। आश्वलायन, कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में भी गोत्रों की सूचियाँ हैं, पर वे कुछ छोटी हैं। प्राचीन भारतीय समाज जिन प्रतिष्ठित परिवारों से बना था उन परिवारों या कुलों की सूचियों को ही तालिका या महाप्रवरकांड समझना चाहिए।

इसी परिस्थिति में पाणिनि और बौद्ध साहित्य की साक्षी हमें मिलती है। पाली बौद्ध साहित्य में गोत्रनामों की प्रधानता पाई जाती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में गोत्रनामों की लंबी-चौड़ी सूचियाँ हैं। गर्गादि, अश्वादि, नडादि, शिवादि, हरितादि गणों में लगभग पाँच सौ से अधिक गोत्रनामों का परिगणन है और पाणिनि ने विशेष ध्यान से इस बात की शिक्षा दी है कि एक ही कुल में बड़े-बूढ़ों और नवयुवकों के गोत्रसंज्ञक नामों में क्या भेद

होता था। उदाहरण के लिये गर्ग का लड़का गार्गि, उसका पोता या पड़पोता गार्ग्य कहलाता था। पर यदि गर्ग जीवित हो तो पड़पोता गार्ग्यायण कहलाता रहेगा। जब गर्ग कुल में वृद्ध का शरीर पूरा हो जाता था तो नीचे के पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र एक-एक सीढ़ी चढ़ जाते थे। अर्थात् जो गार्ग्यायण था वह गार्ग्य बन जाता और उससे नीचे की पीढ़ी का व्यक्ति गार्ग्यायण कहलाने लगता था। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में कुल का प्रतिनिधित्व करने के लिये इस प्रकार के सूक्ष्म भेदों का काफी महत्त्व रहा जान पड़ता है। किसी पंचायत में परिवार की ओर से गार्ग्य प्रतिनिधि बनकर गया या गार्ग्यायण, यह बात अपना महत्त्व रखती थी। गृह्यसूत्रों के समय गोत्रवाची नामों का समाज में बहुत अधिक प्रचार और महत्त्व था। अष्टाध्यायी मे और बौद्ध साहित्य में इसकी भरपूर सामग्री मिलती है।

पाणिनि के समय मे एक दूसरे प्रकार के नाम भी काफी प्रचलित हो गए थे—ये थे स्थानवाची नामों से बननेवाले व्यक्ति-नाम या विशेषण। जैसे, आज जयपुर के निवासी जयपुरिया कहलाते हैं और खंडाला गाँव के पारसी अपने को खंडालवाला तथा तारापुर के तारापुरवाला कहते हैं। मराठी क्षेत्र के अधिकांश नाम गाँवों के नामों के आगे 'कर' प्रत्यय जोड़कर बनाए जाते हैं, जैसे वरसई गाँव का रहनेवाला वरसईकर। इसी प्रकार पाणिनि के समय में नामों के लिये स्थानवाची शब्दों का विशेष महत्त्व था। काशी का रहनेवाला काश्य, मथुरा का माथुर, अवंति का आवंत्य कहलाता था। भिन्न-भिन्न स्थान-नामों से अलग अलग तरह के प्रत्यय जुड़ते थे। इन सबकी व्यवस्था (पाणिनि ने सूत्रों में की है। इसी कारण अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री बहुत बड़ी-चढ़ी है। स्थान-नाम के कारण जो व्यक्ति का नाम पड़ता है उसके दो कारण हैं। स्वय मथुरा में रहने के कारण भी 'माथुर' और पूर्वजों के वहाँ रहने के कारण भी 'माथुर' विशेषण व्यक्ति के नाम के आगे जोड़ा जाता था। यही स्वाभाविक प्रथा लोक में आज तक देखी जाती है। कोई व्यक्ति किसी एक स्थान से हटकर जब दूसरी जगह जा बसता है तब वह स्वयं पहले स्थान के नाम से पुकारा जाता है और उसकी संतानें भी इसी नाम को जारी रखती हैं। जो स्वयं जयपुर में रहा हो, या रहता हो वह 'जयपुरिया' कहलाता है और जिसके पूर्वज वहाँ रहे हों वह भी 'जयपुरिया'

कहलाएगा। पाणिनि की परिभाषा के अनुसार अपने रहने का स्थान 'निवास' (सोऽस्य निवासः ४।३।८९) और पूर्वजों के रहने का स्थान 'अभिजन' (४।३।९०) कहलाता था।

इनके अतिरिक्त पाणिनि ने एक प्रकरण में विशेष रूप से केवल मनुष्य नामों के बनाने का उपदेश किया है। इस प्रकरण (बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ५।३।७८ से लेकर शेवल-सुपरि-विशाल-वरुणार्यमादीनां तृतीयात् ५।३।८४ तक) का विवेचन विशेष रूप से करना होगा, क्योंकि बहुत ही थोड़े में भारतीय नामों के बनाने की विधि सूत्रकार ने बताई है जिसका प्रभाव आज तक के भारतीय नामों पर पाया जाता है।

पाणिनिकालीन नामों की तीन मोटी विशेषताएँ थीं—

(१) नाम के प्रायः दो भाग होते थे—पूर्वपद और उत्तरपद; जैसे देवदत्त या देवश्रुत।

(२) नामों को छोटा करने की प्रथा चल पड़ी थी। उत्तरपद या पूर्वपद का लोप करके नामों को छोटा किया जाता था और लोप को सूचित करने के लिये कुछ प्रत्यय जोड़े जाते थे। जैसे देवदत्त के 'दत्त' को हटाकर केवल 'देवक' नाम प्यार के कारण छोटा किया हुआ नाम है।

(३) नक्षत्र के नामों से मनुष्यों के नाम रखने की प्रथा पाणिनियुग की तीसरी विशेषता थी।

यदि हम पहली विशेषता को देखें, जिसके अनुसार नामों को समस्त पद होना चाहिए, तो हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य नामों का यह रूप वही है जिसका आदेश गृह्यसूत्रों में किया गया है। गृह्यसूत्रों में नामकरण की पद्धति के अनुसार[1] नाम प्रायः चार अक्षरों का होना चाहिए, और नाम के अंत में 'कृत्' शब्द आना चाहिए, तद्धित नहीं—

[1]—गृह्यसूत्रों का नामकरण संस्कार, पारस्कर १।१७।२; आश्वलायन १।१३।५-६, हिरण्यकेशी २।४।१०; काठक ३।२०।१; आपस्तंब ६।१५।१; मानव १।१८।१; बौधायन २।१।२४-३१; गोभिल २।७,१५-१६; शांखायन १।२४; खादिर २।२ ३१-३२; द्राह्यायण २।३।१२; भारद्वाज १।२६; वाराह ३।७

पतंजलि ने याज्ञिकों के प्रमाण से नाम के इसी स्वरूप का समर्थन किया है—'दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद्घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानू-

पिता नाम करोति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। (पारस्कर)

अर्थात् पिता बालक को जो नाम दे उसमें दो या चार अक्षर हों, नाम के आदि में घोष अक्षर (वर्ग के तीसरे, चौथे, पाँचवें) हों, अंत में अंतःस्थ (य, र, ल व) अक्षर हों, अंत का अक्षर दीर्घ हो या विसर्ग हो और वह नाम कृदंत हो, तद्धित नहीं। गृह्यसूत्रों मे जो चार अक्षरवाला नाम कहा है वही पाणिनि के समस्त पद (पूर्वपद + उत्तरपद) के अनुकूल है, और गृह्यसूत्रों के कृदंत नाम के अनुकूल पाणिनि के 'दत्त' और 'श्रुत' उत्तरपद हैं जिनका विधान ६.२.१४८ सूत्र में किया गया है।[2] काशिका के अनुसार देवदत्त और विष्णुश्रुत नाम पाणिनि-सूत्र के उदाहरण हैं। 'दत्त' और 'श्रुत' दोनो कृदंत पद हैं। भाष्य से ज्ञात होता है कि 'रक्षित' और 'गुप्त' पदों का भी नामों के साथ प्रयोग होने लगा था (भाष्य १।१।७३)। इसके उदाहरणों में आम्रगुप्त और शालगुप्त भाष्य में मिलते हैं (भा० १।१।१)। पाणिनि के अनुसार मित्र (६।२।१६५), अजिन (५।३।८२, ६।२।१६५) और सेन (४।१।१५२; ८।३।९९) शब्दों का भी नामों के उत्तरपद मे प्रयोग होने लगा था, जिनके उदाहरण आगे दिए जायंगे।

पाणिनिकालीन नाम पूर्वपद और उत्तरपद के मेल से बने होने के कारण बह्वच् (= बहुत अच् वाला—अर्थात् वह नाम जिसमें दो से अधिक स्वर हो) कहलाते थे (५।३।७८)। प्रायः नाम में चार या पाँच स्वर रहते थे। नामो के इस बह्वच् स्वरूप के कारण दूसरी विशेषता का जन्म हुआ जिसके अनुसार नामों के उत्तरपद या पूर्वपद का लोप करके उन्हें छोटा बनाया जाता था। वैदिककालीन नामों में उन्हें छाँटकर छोटा करने का कोई उदाहरण नहीं पाया जाता। किंतु अष्टाध्यायी में इसके लिये काफी बारीकी के साथ नियम बने हुए मिलते हैं। सूत्र ५।३।८२ के अनुसार यदि नाम के अंत में 'अजिन' पद हो तो उसका लोप कर दिया जाता था, जैसे व्याघ्राजिन

कमनरिप्रतिष्ठितं तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितमिति। नचान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्।' (भाष्य १।१।१)

२—कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि, पाणिनि ६।२।१४८

(व्याघ्र + अजिन) की जगह केवल व्याघ्रक कहने से काम चल जाता था। प्रायः पहले दो स्वरों को रखकर नाम का शेष भाग पुकारते समय छोड़ दिया जाता था। जैसे देवदत्त में पहले दो स्वरों का पद 'देव' है, उसके बाद का 'दत्त' पद छोड़ दिया जा सकता था और उस लोप का सूचक एक प्रत्यय देव में जोड़कर देवक, देविय, देविल आदि नाम बनाए जाते थे। नामों को छोटा करने का रिवाज क्यों चल पड़ा, इस प्रश्न का उत्तर पाणिनि का सूत्र 'अनुकम्पायाम्' (५।३।७६) है। अनुकंपा अर्थात् प्यार या दुलार का जो नाम होता था उसी में उत्तरपद के लोप की प्रवृत्ति पाई जाती थी। इस तरह का नाम पाणिनीय परिभाषा में अनुकंपार्थ नाम कहा जा सकता है। पीछे इसे ही लोग 'प्रिय नाम' भी कहने लगे थे। मौर्य-शुंग काल और मध्यकाल में नाम को छोटा करके उसका रूप बदलने की सामान्य प्रथा हो गई थी। गोत्रवाची नामों में हेर-फेर या काट-छाँट असंभव थी। वे संस्कृत भाषा के नाम थे और जड़ाऊ नगीने की तरह उनका स्वरूप स्थिर था। लेकिन पाली बौद्ध साहित्य के समय में नामों पर प्राकृत भाषा का प्रभाव पूरी तरह पड़ गया था और प्यार या दुलार के नाम छोटे होने लगे थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस प्रवृत्ति का पूरा चित्रण पाया जाता है। दुलार के नाम में कभी कभी प्रत्यय जोड़कर एक स्वर बढ़ाया भी जा सकता था, जैसे देवदत्त की जगह देवदत्तक और यज्ञदत्त की जगह यज्ञदत्तक (५।३।७८)। किंतु सामान्यतः नामों को छोटा करने का नियम ही अधिक प्रचलित था। इसी कारण छोटे रूप में तराशे हुए नाम के देवक देविय, देविल आदि एक से अधिक रूप काम में आते थे।

पाणिनिकालीन तीसरी विशेषता नक्षत्र नामों की है। गृह्यसूत्र भी इस प्रथा का समर्थन करते हैं। जिस नक्षत्र में मनुष्यों का जन्म हो उस नक्षत्र के नाम पर लड़के का नाम रखा जा सकता था। पाली साहित्य में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। तिष्य नक्षत्र में जन्म लेनेवाले बच्चे को तिष्य और पुनर्वसु में जन्म लेनेवाले बालक को पुनर्वसु नाम दिया जा सकता था (४।३।३४)।[१] नाक्षत्रिक नाम पाणिनियुग की विशेषता थी। संहिता,

१—तिष्यश्च माणवकः पुनर्वसु च माणवकौ तिष्यपुनर्वसवः—भाष्य के अनुसार ये नाम सूत्र १।२।६३, 'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्' में अंतर्निहित है।

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में नाक्षत्रिक नामों का अस्तित्व नहीं पाया जाता।[४] नक्षत्राश्रयी नामों की भरमार मौर्य-शुंगकालीन ब्राह्मी लेखों में पाई जाती है। मालूम होता है गृह्यसूत्रों के समय में नक्षत्रनामों की ओर लोगों की आस्था बढ़ गई थी। आपस्तंब के अनुसार नक्षत्र-नाम मनुष्य का गुह्य नाम समझा जाता था। गोभिल का मत है कि गुरु अपने शिष्य के लिये, जब वह पहली बार उसके पास आता था, नक्षत्र-नाम चुन देता था जो शिष्य का अभिवादनीय नाम कहलाता था। संभवतः इसी नाम से पुकार कर गुरु शिष्य को अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देते थे। शांखायन खादिर, मानव और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रों का मत भी यही है। 'मौद्गल्यायन तिष्य'—इस भारी नाम में पुकारने की सुविधा केवल 'तिष्य' नाम में अधिक है, अतएव प्यार से बुलाने आदि में नक्षत्र नाम का प्रचार ही अधिक संभव था।

नक्षत्र-नामों की ओर जनता का झुकाव क्यों हुआ, इसका उत्तर उस समय की धार्मिक प्रवृत्तियों और विश्वासों में पाया जाता है। साधारण मनुष्यों का यह विश्वास बढ़ रहा था कि नक्षत्रों के अधिष्ठातृ देवताओं की मानता करने से शुभ-अशुभ फल की प्राप्ति होती है। समाज में नैमित्तिक और मौहूर्तिक लोगों की बन आई थी। पाली साहित्य में इस तरह की बहुत सी कहानियाँ पाई जाती हैं कि नक्षत्रविद्या और ज्योतिष के जाननेवालों के कहने-सुनने का जनता पर प्रभाव पड़ता था। 'सास्य देवता' प्रकरण में स्वयं पाणिनि ने प्रोष्ठपद नक्षत्र को देवता कहा है (४।२।३५)। नक्षत्रों की शक्ति में जनता का जब विश्वास बढ़ता है तभी तिष्यदत्त, पुष्यदत्त जैसे नाम सूझते हैं और रखे जाते हैं। वस्तुतः पूजन-पाठ, श्रद्धा भक्ति के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके संतान पाने का विश्वास जब लोगों में घर करता है तभी दत्त, रक्षित, गुप्त जैसे नामों के अंतिम पद व्यवहार में आते हैं। पाणिनि के समय में

४—इस प्रकार के केवल दो तीन विरल उदाहरण हैं। जैसे, चित्र गाङ्ग्यायनि (शाखायन आरण्यक ३।१); चित्र गार्ग्यायणि (जैमिनीय ब्राह्मण २।१); आषाढ़ सायवस (जैमिनीय ब्राह्मण, यह शार्कराक्षों के ग्रामणी का नाम था); आषाढि सौश्रोमतेय (शतपथ ६।२।१।३७) जो आषाढ़ और सुश्रोमता का पुत्र था। इन नामों में संभव यह है कि चित्र = विचित्र और आषाढ़ = पलाशदंड हो और दोनों में से कोई भी नक्षत्रनाम न हो।

यह धार्मिक परिवर्तन समाज में आ चुका था। इंद्रदत्त, वरुणदत्त, देवदत्त जैसे नाम उसी अवस्था में संभव हुए। एक ओर तो पुराने वैदिक देवताओं की भक्ति की ओर जनता का ध्यान था और यज्ञ के अतिरिक्त अन्य उपायों से भी लोग उन्हें प्रसन्न करने का उपचार करने लगे थे; दूसरी ओर नक्षत्रों के अधिपति अथवा दिशाओं के अधिपति लोकपालों को देवता का पद प्राप्त हो रहा था। पाली साहित्य में 'चातु महाराजिक' (चार लोकपाल देवताओं की) भक्ति का प्रायः उल्लेख आता है। पाणिनि ने भी 'महाराज' को देवता कहा है (४।२।३५)। यह 'महाराज' कुबेर का ही नाम था जो लोकपालों और यक्षों में बड़े समझे जाते थे। संस्कृत साहित्य में कुबेर को इसीलिये 'राज-राज'[५] कहा गया है। बुद्ध के उदय से पहले ही लोक में यक्षों और कुबेरों की मानता प्रचलित हो चुकी थी और वह बराबर बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म ने यक्ष पूजा के साथ बड़ी भलमनसाहत का समझौता किया और जनता के जमे हुए विश्वासों के साथ धक्का-मुक्की करने के बदले उन्हें अपनाकर उनके कंधों पर अपने लिये आदर का स्थान बनाया। लोक-जीवन का यह सुंदर पक्ष भरहुत और साँची के स्तूप-तोरणों पर और वेदिका के खंभों पर खुलकर देखने में आता है।

धर्म की छाप नामों पर अवश्य पड़ती है। देवताओं के नाम मनुष्यों के नामों में घुल-मिल जाते हैं और पुरातत्त्व की सामग्री की तरह बचे रह जाते हैं। षष्ठिदत्त नाम गुप्तकाल की मुद्रों पर बचा हुआ एक संकेत है जो उस युग में अत्यंत प्रिय षष्ठीदेवी की पूजा को सूचना देता है। मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षों को जिस युग में लोग पूजते थे उसी युग में उनके भक्त अपने पुत्रों के नाम भी मणिभद्रगुप्त या मणिभद्रदत्त रखने की बात सोच सकते थे। यद्यपि ईसाई धर्म ने इंगलिस्तान के पुराने धर्मों और विश्वासों को उखाड़ डाला, परंतु फिर भी पुराने देवी-देवताओं और पहाड़-नदी-नालों को पवित्र रखनेवाले छुटभैए यक्ष और जिनों के नाम जो किसी समय जनता में प्रचलित थे, प्राचीन अंग्रेजी नामों में अभी तक बचे पड़े हैं। यही सत्य

५—अंतर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ। मेघदूत १।३
'राजराज' पर मल्लिनाथ की टीका—राज्ञानो यक्षाः, राज्ञां राजा राजराजा कुबेरः।

अन्य जातियों और देशों में भी चरितार्थ होता है। प्राचीन भारतीय मनुष्य-नाम और स्थान-नामों की पड़ताल करने से मुंडा, शबर, द्रविड़ आदि जातियों के देवी-देवताओं का कुछ परिचय प्राप्त हो सकेगा।

नक्षत्रों से मनुष्य-नाम बनाने का आधार उस नक्षत्र में जन्म लेना है। 'तत्र जातः' (४।३।२५) सूत्र के अनुसार नक्षत्रवाची शब्दों में प्रत्यय जोड़े जाते हैं। प्रायः नक्षत्रवाची शब्दों से मनुष्य-नाम बनाने के लिये जोड़े हुए प्रत्यय का लोप हो जाता था। उदाहरण के लिये रोहिणी नक्षत्र में जन्मा हुआ व्यक्ति रोहिण कहलाता था। इसी प्रसंग में निम्नलिखित सूत्र विचारने योग्य है—

श्रविष्ठा फल्गुन्यनुराधा स्वाति तिष्य पुनर्वसु हस्त विशाखाषाढा बहुलाल्लुक्।

(४।३।३४)

श्रविष्ठा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, अषाढ़ा, और बहुला (अर्थात् कृत्तिका) इन नक्षत्रों में यदि किसी का जन्म होने के कारण नाम बनाना हो तो प्रत्यय का लुक् समझना चाहिए। श्रविष्ठा नक्षत्र में जिसका जन्म हुआ हो उसका नक्षत्राश्रयी नाम श्रविष्ठ होता था। इसी प्रकार फल्गुन, अनुराध, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाख, अषाढ़ और बहुल—इतने नाम और बनते थे।[६] अभिजित्, अश्वयुज और शतभिषक् भी नक्षत्रों के नाम हैं। पाणिनि के अनुसार इनके 'तत्र जातः' इस अर्थ में दो दो रूप बनते थे—प्रत्यय का लोप करके और प्रत्यय के साथ; जैसे अभिजित्-आभिजित, अश्वयुक्-आश्वयुज, शतभिषक्-शातभिषज।

जातकों में नक्षत्र-नाम प्रायः आते हैं; जैसे विसाखा, पुनब्बसु, चित्ता, पोट्ठपाद, फग्गुनी, फुस्स, तिस्स, उपतिस्स। साँची के लेखों में कुछ नक्षत्र-नाम इस प्रकार हैं—

६—कोनामासीत्युक्तो देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं वाभिवादनीयं नाम ब्रूयादसावस्मीति (द्राह्यायण गृह्यसूत्र २।४।१२); अर्थात् 'क्या नाम है' यह प्रश्न पूछने पर शिष्य गुरु के सामने अपना अभिवादनीय नाम बोलकर बताए, जो देवता या नक्षत्र के आधार पर रखा गया हो।

फगुन, फगुला, तिसक (= तिष्यक), उपसिक्ष (= उपसिद्ध्य), सिद्धा (सिद्धया), पुस (= पुष्यदत्त), पुसक, पुसनी, बहुल, सातिल (= स्वातिगुप्त या स्वातिदत्त), असाढ़, मूल, पोठक (प्रोष्ठपद दत्त), पोठदेवा (= प्रोष्ठदेवी), अनुराधा, सोना (= श्रवणा)।

सातिल नाम का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि पहले नक्षत्र के आश्रय में स्वातिदत्त या स्वातिगुप्त नाम बनाया गया। फिर उत्तरपद का लोप किया गया और उस लोप का सूचक 'ल' प्रत्यय जोड़ा गया। तब रूप बना स्वातिल, जिसका प्राकृत रूप हुआ सातिल। ऐसे ही पोठक नाम (प्रोष्ठपद दत्त-प्रोष्ठक-पोठक) को भी समझना चाहिए।

मनुष्य-नाम संबंधी निम्नलिखित विविध सामग्री अष्टाध्यायी से प्राप्त होती है—

(१) वे नाम जिनमें 'विश्व' पूर्वपद हो (बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् ६।२।१०६)। काशिका में इसके उदाहरण हैं विश्वदेव, विश्वयशस्। पाणिनि से पहले के साहित्य में विश्वामित्र, विश्वमनस् (जैमिनीय ब्राह्मण) और विश्वसामन नाम मिलते हैं। जातकों में विश्वादि नामों की संख्या कुछ अधिक है; जैसे—विस्सकम्म, विस्ससेन (काशी के राजा का नाम, जा० २।३४४), वेस्सभू बुद्ध, वेस्सामित्र (एक प्राचीन राजा, पौराणिक राजा, ६।२५१) और वेस्संतर।

(२) वे नाम जिनमें उत्तरपद उदर, अश्व और इषु हो (उदराश्वेषुषु, १६।२।१०७)। काशिका में इसके उदाहरण हैं वृकोदर, हर्यश्व, महेषु-जो कि पाक्पाणिनीय जान पड़ते हैं। उदरांत नाम का केवल एक उदाहरण जातक में मिलता है-बहुशोदरी देवधिता (जा० ६।८३)।

(३) वे नाम जिनके अंत में 'कर्ण' हो (६।२।११२)। इसके भी बहुत ही थोड़े उदाहरण हैं, जैसे, शिवादिगण मे 'मयूर कर्ण' (४।१।११२)। संभवतः कर्णांत नामों की प्रथा पाणिनिकालीन ही थी।

(४) वे नाम जिनके अंत में कंठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जंघा शब्द हों (६।२।११४)। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के नाम बहुत ही कम हैं। शितिपृष्ठ और शितिकंठ, दो नाम वहाँ मिलते हैं। पाणिनि ने उपकादिगण

(२।४।६९) में कलशीकंठ, दामकंठ और खारीजंघ नाम गिनाए हैं। काशिका में उद्धृत तालजंघ पुराना नाम था। मणिकंठ नाम जातकों में आता है। (जा० २।२८२)।

(५) वे नाम जिनके अंत में 'शृंग' शब्द हो (६।२।११५)। इसका केवल एक ही उदाहरण बौद्ध और संस्कृत साहित्य में पाया जाता है, अर्थात् ऋष्यशृंग।

(६) वे नाम जिनके आदि में (पूर्वपद) 'मनसा' हो (६।३।४)। काशिका में इसके उदाहरण मनसादत्त और मनसागुप्त हैं। साहित्य में इन नामों का प्रयोग देखने में नहीं आता। अवश्य ही ये नाम ठेठ पाणिनिकालीन हैं। 'मनसा' पद तृतीया का एकवचन रूप है। मन से जो बालक देवता को अर्पित कर दिया जाता था, अर्थात् जिसे देवता के निमित्त 'मंस' देते थे, वह मनसादत्त कहलाता था। नवजात शिशु को मर्तजाई (जिनके बच्चे होकर मर जाते हैं) माताएँ देवता का करके मान लेती थीं; अर्थात् बच्चे और मृत्यु के बीच में देवता की साक्षी समझी जाती थी। इसी से वह बचा जी जाता था, ऐसा लोगों का विश्वास था।

(७) वे नाम जिनके अंत में 'मित्र' हो (६।२।१६५)। वैदिक साहित्य में मित्रांत नाम बहुत थोड़े हैं। पर पाणिनियुग और बाद के साहित्य में उनकी बहुतायत है; जैसे सर्वमित्र (जा० ५।१३), जितमित्र (जा० १।३७), चंदमित्र (जा० १।४१)। ब्राह्मी शिलालेखों में मित्रांत नामों की बाढ़ आ जाती है। साँची में बलमित्र (ज्ञात होता है कि बलराम की मानता या पूजा इस नाम के पीछे निहित है; ई० पू० द्वितीय शताब्दी में मथुरा के आसपास संकर्षण और वासुदेव की पूजा चालू हो गई थी और बलराम की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं), नागमित्रा (नाग देवता से संबंधित स्त्री-नाम), उत्तरमित्रा (उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से संबंधित), वसुमित्रा, ऋषिमित्रा (इसिमिता), जितमिता और मित्रा[७] तथा भरहुत में संघमित्र और गर्गमित्र नाम भी पाए जाते हैं (ल्यूडर्स सूची ४०३,४०७)। पंचाल राजाओं के सिक्कों पर (ई० पूर्व

७—बूहलर, साँची लेखों में व्यक्तिवाची शब्द, एपिग्राफिया इंडिका २।४०३; भरहुत के नामों के लिये द्रष्टव्य ल्यूडर्स कृत लेख-सूची, ए० इं० भाग १०, परिशिष्ट।

प्रथम शती) ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। उस समय उन देवताओं की भक्ति और पूजा अच्छी तरह फैल चुकी थी। इसी कारण उनसे निस्सृत नाम पंचाल राजाओं की सूची में मिलते हैं; जैसे बृहस्पतिमित्र, अग्निमित्र, भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, फल्गुनीमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, प्रजापतिमित्र।

(८) वे नाम जिनके अंत में 'अजिन' हो (६।२।१६५)। काशिका के अनुसार वृकाजिन, कुलजिन, कृष्णाजिन। जातकों में दो उदाहरण मिलते हैं—मिगाजिन (६।५८) और कण्हाजिना (वेस्संतर की पुत्री, ६।४८७)। पाणिनि ने भी उपकादिगण (२।४।६९) में कृष्णाजिन का उल्लेख किया है। साहित्य में अजिनांत नामों का टोटा है। पाणिनि के अनुसार अजिनांत नाम में उत्तरपद के लोप का विधान है (अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ५।३।८२)। जैसे, व्याघ्राजिन में 'अजिन' का लोप होने के बाद व्याघ्रक हो जाता था।

(९) वे मनुष्य-नाम जो जातिवाचक शब्दों से लिए गए हों (जातिनाम्नः कन् ५।३।८१)। जैसे व्याघ्रक, सिंहक। दूसरे प्रत्यय जोड़ने से इन्हीं के रूप व्याघ्रिल, सिंहिल भी होते थे। पाणिनि के समय में व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, वराह, कुंजर आदि पशु मनुष्य के बलवीर्यादि के उपमान मान लिए गए थे (उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे, २।१।५६; पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः पुरुषसिंहः)। सिंहों का पैदल शिकार करना, हाथ में तलवार लेकर व्याघ्र या सिंह के मुकाबले में अकेले डट जाना, इस प्रकार के विनोद और आखेटों का समाज में काफी प्रचार हो चुका था। 'सिंह' शब्द का भारतीय नामों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः इस शब्द ने भारतीय नामों के उत्तरपद रूप में जो स्थान प्राप्त किया है वह अन्य किसी शब्द को नहीं मिला। आज भी राजस्थान और पंजाब के प्रायः शत प्रतिशत नाम सिंहांत सुने जाते हैं। शुंगकालीन ब्राह्मी लेखों में 'सिंह' से निकले हुए नाम इस प्रकार मिलते हैं—सोह, सिहा, सीहा, सिहदत, सीहदेव, सिहक, सिहमित्र, सिहनादिक, सिहरखित, सीहरखित। कारला की गुफा में एक यवन (यूनानी) का नाम सिहधय (=सिंहध्वज) मिलता है। गुप्तकाल में सिंह शब्द का नाम के साथ संबंध शिथिल पड़ गया था। किंतु मध्यकाल में सिंहांकित नामों की प्रथा ही चल गई थी। सिंह से सीहाक, सीहड (=सिंहभट्ट), ये अपभ्रंशकालीन नाम हैं।

लेकिन 'सिंह' शब्द का पूरा प्रचार और महत्त्व तो उत्तरपद के रूप में संभवतः मुसलिम काल में हुआ।

(१०) वे नाम जिनके अंत में 'सेन' शब्द हो (एति संज्ञायामगात् ८।३।९९)। सेनांत नामों का विशेष उल्लेख सूत्र ४।१।१५२ (सेनांत लक्षण कारिभ्यश्च) में हुआ है। काशिका में इसके उदाहरण कारिषेण, हरिषेण मिलते हैं। वैदिक काल में सेनांत नाम के उदाहरण यज्ञसेन (तैत्तिरीय सं० ५।४।८।१; काठक सं० २१।४) और ऋष्टिषेण (ऋष्टि या बरछी नामक आयुध की सेनावाला, निरुक्त २।११) मिलते हैं।[८] पतंजलि के अनुसार जातसेन भी एक ऋषि का नाम था (जातसेनो न ऋषिरस्मादुभयं प्राप्नोति, ४।१।११४)। क्षत्रियों के सेनांत नामों में पतंजलि ने उग्रसेन अंधक, विष्वक्सेन वृष्णि और भीमसेन कुरु का उल्लेख किया है (४।१।११४)। पाणिनि के युग में सेनांत नाम काफी चल गए थे। जातकों में मिलनेवाले नाम सोत्थिसेन (=स्वस्तिसेन, जा० ५।८८), सुरसेन (=शूरसेन, काशिराज, जा० ४।४५८), उपसेन (जा० २।४४९), अत्थिसेन (=अस्तिसेन, जा० ३।३५२), नंदिसेन (जा० ३।३), जयसेन (जा० निदान कथा), चंदसेन (जा० ४।१५७), और भद्दसेन (जा० ६।१३४) हैं। साँची में धमसेन, बरसेन, भरहुत में नागसेन, महेंदसेन और पभोसा में अषाढ़सेन नाम मिले हैं।

पाणिनि सूत्र ८।३।१०० (नक्षत्राद्वा) से ज्ञात होता है कि नक्षत्रवाची शब्दों के साथ 'सेन' शब्द लगाकर भी मनुष्य नाम बनाए जाते थे। इसके उदाहरण रोहिणिसेन, भरणिषेन हैं। इसी सूत्र का अनिवार्य उदाहरण शतभिषक् सेन है जो मनुष्य-नाम के रूप में साहित्य में नहीं मिला।

(११) वे नाम जिनके अंत में 'दत्त' और 'श्रुत' पद इस तरह प्रयुक्त हों कि उनसे आशीर्वाद प्रकट हो (क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्... कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि, ६।२।१४८)। जैसे देवदत्त (देवा एनं देयासुः, अर्थात् जिसके जन्म के समय मातापिता के मन में ऐसी भावना हो कि 'देवता इसे दें'), विष्णुश्रुत (विष्णुरेनं श्रूयात्—अर्थात् जिसके जन्म के समय ऐसी भावना हो कि 'विष्णु इसे सुनें')। ये दोनों नाम

८—कौषीतकी ब्रा० ७।४ में यज्ञसेन के पुत्र याज्ञसेन का उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण में सुत्वा याज्ञसेन का उल्लेख है।

कृदंत उत्तरपद वाले हैं। वैदिक या बौद्ध साहित्य में ऐसे नाम शायद ही कोई हों जिनमें 'श्रुत' उत्तरपद हो। 'दत्त' से समाप्त होनेवाले वैदिक नामों के उदाहरण ये हैं—ब्रह्मदत्त (जो कोसल के राजा थे, जिनका नाम प्रसेनजित भी था, जैमिनीय ब्राह्मण), पुनर्दत्त और सूर्यदत्त (शांखायन आ० ८।८)। बौद्ध साहित्य में इन नामों की परिपाटी चल पड़ी थी; जैसे देवदत्त, भूरिदत्त (जा० ६।१६७), मतिदत्त (जा० ४।३४२), यज्ञदत्त ब्राह्मणकुमार (जा० ४।३०), सोमदत्त (जा० ६।१७०)। साँची स्तूप के अभिलेख जिस समय खुदवाए गए थे उस समय तो देवों के आशीर्वाद पर नामों की भरमार हो गई थी; जैसे अगिदत्त, वायुदत्त, यमदत्त, इददत्त (=इन्द्रदत्त), इसिदत्त (=ऋषिदत्त), बहदत्त (=ब्रह्मदत्त), उपेददत्त या उपदिदत्त (=उपेन्द्रदत्त), उत्तरदत्त, वैश्रमणदत्त, पुष्यदत्त, गंगदत्त, धर्मदत्त, नागदत्त आदि। कात्यायन ने एक वार्तिक में मद्दत्त नाम का उल्लेख किया है जिसका छोटा रूप मदत्त होता था (१।४।५८)। पतंजलि के समय में देवदत्त, यज्ञदत्त ब्राह्मणों के सामान्य नाम हो गए थे (१।१।७३), जिनका छोटा रूप केवल 'दत्त' होता था (देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति, भाष्य १।१।४५)।

(१२) पाणिनि ने एक सूत्र में विशिष्ट नामों का उल्लेख किया है—शेवल-सुपरि-विशाल वरुणार्यमादीनां तृतीयात् (५।३।८४)। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा इन पाँच शब्दों से जो नाम बनते हैं उनमे तीसरे स्वर के बाद सब अक्षरों का लोप हो जाना चाहिए और लोप के बाद जो रूप बचे, उसमें इक, इय, इल - ये तीन प्रत्यय जोड़ दिए जायें। जैसे, शेवलदत्त या शेवलेंद्रदत्त में तीसरे स्वर के बाद सब अक्षरों का लोप करके प्रत्यय जोड़ने से शेवलिक, शेवलिय और शेवलिल—ये तीन नाम बनते हैं। सुपर्यांशीर्दत्त नाम का छोटा रूप सुपरिक, सुपरिय या सुपरिल होता था। विशालदत्त को दुलार के लिये (अनुकंपार्थ) विशालिक, विशालिय, विशालिल पुकारते थे। ये नाम कुछ बेतुके से हैं। लोक में चालू रहे होंगे। शेवलदत्त का कुछ अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता। जान पड़ता है कि ये किन्हीं यक्ष या छुटभैए देवताओं के नाम थे जिनकी मानता मानने से लोग पुत्र-लाभ की आशा करते थे। 'विशाल' निश्चयपूर्वक एक यक्ष का नाम था जो सभापर्व में उन यक्षों की सूची में है जो कुबेर की सभा में

उपस्थित थे (सभापर्व १०।१६)। यह इस बात का संकेत देता है कि संभवतः शेवल और सुपरि भी यक्षों के नाम थे। 'शेव' प्राचीन वैदिक शब्द है जिसका अर्थ था धन या समृद्धि। जो धन दे वह शेवल। शेवल यक्ष के लिये धनद की तरह सार्थक नाम हुआ। फिर शेवलदत्त के अतिरिक्त काशिका ने शेवलेंद्र-दत्त नाम का भी उदाहरण दिया है। शेवलदत्त वह बालक हुआ जिसके जन्म के लिये शेवल का आशीर्वाद प्राप्त किया गया हो। शेवल का स्वामी शेवलेंद्र हुआ, अर्थात् यक्षराज कुबेर या वैश्रवण की संज्ञा शेवलेंद्र होनी न चाहिए थी कुबेर के आशीर्वाद से प्राप्त बालक के लिये शेवल यक्ष की भक्ति करनेवाले गृहस्थ लोग ऐसा नाम चुनते रहे होंगे। शेवलेंद्र या कुबेर भी एक यक्ष की संज्ञा थी। भरहुत स्तूप के खंभे पर कुबेर यक्ष की मूर्ति (कुपिरो यखो) पाई गई है। यदि शेवलेंद्रदत्त से 'शेवल और इंद्र के आशीर्वाद से उत्पन्न', यह तात्पर्य लिया जाय तो भी शेवल एक देवता का नाम ठहरता है। बौद्धों के आटानाटीय सुत्त (दीघनिकाय, ३२) में यक्खराजों की सूची में इंद्र, सोम, वरुण, प्रजापति, मणिभद्र, आलावक आदि नामों में इंद्र और वरुण भी यक्ष हैं। वरुण का नाम पाणिनि के इसी सूत्र में आया है। ऐसा ज्ञात होता है कि यक्षरूप में वरुण की मानता पाणिनि-काल में होती थी। अर्यमा का बच्चों के जन्म से घनिष्ठ संबंध था, ऐसा अथर्ववेद के 'नारी सुखप्रसव' सूक्त के प्रथम मंत्र (अथर्व० १।११।१) से विदित होता है, जिसमें कहा है कि प्रसव के समय अर्यमा चतुर होता की तरह बच्चे के झटपट जन्म लेने के लिये 'वषट्' का बोल बोल दे। इससे अर्यमादत्त नाम की बात समझ में आ सकती है।

पाणिनि के इस सूत्र (शेवल सुपरि विशाल वरुणार्यमादीनां तृतीयात् ५।३।८४) पर कात्यायन का एक वार्तिक है—वरुणादीनां तृतीयात्स्वाकृत-सन्धीनाम्; अर्थात् वरुण आदि पूर्वपदवाले नामों में जब तीसरे स्वर के बादवाले स्वरों का लोप किया जाय, तो वरुणादि शब्दों का वह स्वरूप लेना चाहिए जो उत्तरपद के साथ होनेवाली किसी स्वर संधि से पहले का हो। यहाँ एक छोटा सा प्रश्न उठता है कि कात्यायन ने 'वरुणादीनां' क्यों कहा? 'शेवलादीनां' कहते तो ठीक होता, क्योंकि पाणिनि का सूत्र शेवल से आरंभ होता है। हमारा अनुमान है कि पाणिनि से पूर्व के किसी व्याकरण में 'वरुणार्यमादीनां' सूत्र ही पढ़ा गया था और यह वार्तिक उसी काल का

है। पाणिनि ने किसी पूर्वाचार्य का सूत्र ग्रहण करके अपनी ओर से शेवल, सुपरि और विशाल, इन तीन नए नामों का पैबंद इस सूत्र में लगाया। वरुण और अर्यमा पहले के माने हुए देवता थे, आरंभ में बच्चों के नाम भी उन्हीं के नाम पर रखे जाते रहे होंगे। पीछे से छोटे छोटे देवी-देवताओं की बाढ़ आई और लोक में उनकी मान्यता फैली। तभी, विशेषकर बुद्ध के और गृह्यसूत्रों के युग में इंद्र, वरुण, सोम, प्रजापति जैसे वैदिक देवताओं को भी यक्ष बना डाला गया और नए नए यक्ष तो पुजने ही लगे। विशाल, शेवल और सुपरि, तीन नाम लोक में प्रचलित मनुष्य-नामों से लेकर पाणिनि ने पूर्व सूत्र में बढ़ाकर अपना सूत्र बनाया, पर कात्यायन ने वही पहले का वार्तिक रहने दिया। बौद्ध साहित्य में सीवल और सीवली दो नाम आए हैं। संभव है उनका संबंध भी शेवल से ही हो।

सुपरि के आशीर्वाद से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसके लिये सुपर्याशीर्दत्त (सुपरि + आशीः + दत्त) नाम बनता था। यद्यपि नाम कुछ टेढ़ा है, पर विशाल यक्ष की तरह सुपरि भी कोई विशेष देवता या यक्ष अवश्य रहा होगा, जिसका पद अपने वर्ग में इतना ऊँचा था कि भक्त लोग उसके पूजा-पाठ से पुत्र की कामना करते थे। सुपर्याशीर्दत्त नाम में आशीर्वाद पद का लोप करके सुपरिक, सुपरिय, सुपरिल - ये तीन दुलार के नाम बनाए जाते थे। शेवल, सुपरि, विशाल और अर्यमा नामों के उदाहरण साहित्य में बहुत ही कम या नहीं हैं। भरहुत में एक बार 'अयम' नाम आया है जो अवश्य अर्यमा का ही रूप है (ल्यूडर्स सूची ८१३)।

(१३) वे नाम या विशेषण जो गोशाला, खरशाला और वत्सशाला में जन्म लेने के कारण बनें; जैसे गोशाला से गोशाल, खरशाला से खरशाल (४।३।३५) और वत्सशाला से वात्सशाल या वत्सशाल (४।३।३६)। इनमें मंखलि गोशाल नाम का उदाहरण प्रसिद्ध है। मंखलि ही संभवतः पाणिनि का मस्करी है जिसका उल्लेख सूत्र ६।१।१५४ (मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः) में हुआ है। मस्करी नाम की व्युत्पत्ति बताते हुए पतंजलि ने लिखा है कि मस्करी का मत कर्मवाद का निराकरण था (मा कर्म कार्षी शान्तिर्वः श्रेयसी)। मंखलि गोशाल भी इसी मत के प्रवर्त्तक थे, दैववाद या भाग्य ही उनकी शिक्षा का सार था। महाभारत शांति पर्व में मंकि ऋषि की

एक कहानी है जिसमें दैव और पुरुषार्थ की विवेचना करते हुए मंकि ने अंत में यह मत प्रकट किया कि इस लोक में दैव ही सब कुछ है, पुरुषार्थ में सार नहीं (शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम्, शांति-पर्व, अ० १७७)। भरहुत के एक वेदिका-लेख में गोशाल नाम आया है जो लोकप्रचलित नाम रहा होगा (ल्यूडर्स कृत सूची ८५३)।

(१४) वे नाम जिनके अंत में 'पुत्र' हो और आदि में पुरुषवाची शब्द हो (पुत्रः पुम्भ्यः, ६।२।१३२); जैसे कौनाटिपुत्र, दामकपुत्र, माहिषकपुत्र। पिता का नाम गौरवसूचक समझा जाता है, इसलिये इनमें पूर्वपद का पहला स्वर उदात्त बोला जाता था। इससे उलटी रीति पूर्वपद में माता का नाम रखने की थी; जैसे वात्सीपुत्र, गार्गीपुत्र। यहाँ उदात्त उच्चारण नाम के अंतिम स्वर पर पड़ता था। पाणिनि की राय में गोत्रवाची स्त्री-नाम से बेटे का नाम पड़ना हेठी की बात थी, क्योंकि जब पिता में गड़बड़ी होगी और उसका ठीक नाम न मालूम होगा तभी माँ के नाम से काम चलाना पड़ेगा (गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च, ४।१।१४७); इसपर काशिका की व्याख्या है—पितुर-सविज्ञाने मात्रा व्यपदेशोऽपत्यस्य कुत्सा)। यह तो हुई पाणिनिकाल की स्थिति, पर शतपथ ब्राह्मण के आचार्य वंश की सूची में माता के नाम से प्रसिद्ध ऋषियों के नामों की भरमार है। सांजीवीपुत्र से आरंभ करके बीसों नाम उस सूची में हैं (बृ० उ० ६।५७, अंत की वंश-सूची)। शतपथ ब्राह्मण या उपनिषद् काल में ऐसा नाम रखना प्रतिष्ठा की बात थी। पाणिनि के युग में उसमें निंदा का भाव आ गया था। पर पीछे से शुंग काल में हम फिर सातवाहनवंशी राजाओं के नामों में बड़े आदर के साथ माता का नाम जुड़ा हुआ पाते हैं। पतंजलि ने जो माता के नाम से पुत्र के नाम को प्रतिष्ठासूचक बताया है वह उनके युग की प्रथा के अनुकूल ही है; जैसे गार्गीमात, वात्सीमात (मातृणां मातच् पुत्रार्थमर्हते, ७।३।१०७)।

पाणिनि में हमें लड़कियों का नाम नदी के नाम पर रखने की प्रथा का उल्लेख मिलता है। माता का नाम यदि नदी के नाम पर है—जैसे यमुना, वितस्ता—तो पुत्र का नाम अण् प्रत्यय जोड़कर बनेगा; जैसे यामुन, वैतस्त (अवृद्धाभ्यो नदी मानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः, ४।१।११३)। गृह्यसूत्रों के समय लड़कियों के लिये नदी-नामों का रिवाज सम्मत रहा होगा, पर पीछे मनुस्मृति में इसे अच्छा नहीं समझा गया। यही बात नक्षत्रों पर रखे जानेवाले नामों पर भी घटती है,

क्योंकि मनु ने यहाँ तक लिखा है कि नक्षत्र, नदी और पेड़ के नाम पर जिस लड़की का नाम हो उससे ब्याह न करे। पर गृह्यसूत्रों और पाणिनि के काल में तो नक्षत्र-नाम बहुत ही प्रचलित थे। पीछे शुंग काल में मानो नक्षत्र-नामों ने दूसरी तरह के नामों को छा ही लिया था। इसीलिये संभवतः स्मृतिकाल में इस तरह के निषेध की बात सुझाई गई।

ऊपर के सूत्र में पाणिनि ने स्त्रियों के लिये एक दूसरे प्रकार के नाम भी सुझाए हैं। इन मानुषी नामों के उदाहरण काशिका में 'चिन्तिता', 'शिक्षिता' हैं। वराह गृह्यसूत्र में, जो पाणिनिकाल के बाद की लोकसम्मति को प्रकट करता जान पड़ता है, ऐसे नाम अच्छे नहीं समझे गए जो नदी से बने हों या जिनमें देवता के नाम के साथ 'दत्त', 'रक्षित' पद जोड़े गए हों (श्री कणे, बच्चे का नामकरण इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १९३८, पृ० २३३)।

(१५) नामों को छोटा करने के लिये जोड़े जानेवाले प्रत्यय इस प्रकार थे—

(अ) इक-पाणिनि के अनुसार ठच् प्रत्यय था जिसके स्थान में इक आदेश होता है (सूत्र ५।३।७८)। देवदत्त को छोटा करके 'देव' बना, फिर उसमें लुप्त उत्तरपद की जगह भरने के लिये इक प्रत्यय जोड़ने से 'देविक' दुलार का नाम बनता था। ऐसे ही यज्ञदत्त से यज्ञिक। साँची में प्राप्त 'छडिक' नाम का मूल होगा सं० षडिक, मूल षडंगुलिदत्त, जिससे लोक में 'छंगा' बनता है (ल्यू० सूची ३८०, काशिका ५।३।८३), और भरहुत में प्राप्त यसिक का यशोदत्त (ल्यू० सूची ७५७)।

(आ) इय—पाणिनि के अनुसार घन् प्रत्यय था (५।३ ७९) जिसकी जगह इय जोड़ा जाता था। छोटा करने के नियम वे ही थे। इसके अनुसार देविय, यज्ञिय नाम सार्थक हुए। जातक में अन्य नाम हैं गिरिय (जा० ३।३२२), चंदिय (चंदकुमार, ६।१३७), नंदिय (जा० २।१९९; इसी मूल का दूसरा रूप नंदिक (जा० २।२००) और तीसरा रूप नंदक भी मिलता है), सभिय (जा० ६।३२९, सभाकुमार या सभादत्त; सभा से तात्पर्य देवसभा से था)। साँची, भरहुत में इय प्रत्यय के नाम प्रायः नहीं है। संभवतः यह मगध देश की प्रथा थी।

(इ) इल—यह प्रत्यय भी अनुकंपार्थ या प्यार के नाम में जोड़ा जाता था (५।३।७९, घनिलचौ)। देवदत्त और यज्ञदत्त से क्रमशः देविल और यज्ञिल बनते हैं। जातकों में गुत्तिल (२ २४८) और मखिल (मखादेव, निदान कथा, पृ० ४१) नाम हैं।

'इल' वाले नाम साँची में इस प्रकार हैं—अगिल (अग्निदत्त), सातिल (स्वातिदत्त), नागिल (नागदत्त), यखिल (यक्षदत्त), बुधिल (बुधदत्त)। भरहुत में यखिल (ल्यू० ८४६), महिल (ल्यू० ७६६) और घटिल (घटदत्त या घटकुमार, ल्यू ८६०) हैं।

वे नाम जिनके आदि में 'उप' आता है, विशेष नियम (प्राचामुपादेरडज् वुचौ च, ५।३।८०) के अधीन हैं। उदाहरण के लिये उपेंद्रदत्त नाम काशिका ने दिया है। भारतवर्ष के पूरबी भाग के आचार्यों का मत था कि ऐसे नामों से प्यार का नाम बनाने के लिये 'अड' और 'अक' प्रत्यय जोड़े जायँ। उपेंद्र विष्णु की संज्ञा है। उपद्रदत्त में 'उप' अलग करके उप + इंद्रदत्त + अड रूप बना। छोटा करने के लिये बीच के इंद्रदत्त पद का लोप करने पर 'उपड' नाम बचता था। इसी तरह 'अक' प्रत्यय लगाकर 'उपक'। ऐसे नाम बिहार इत्यादि की ओर विशेष प्रचलित रहे होंगे। पहले के तीन प्रत्यय लगाने से उपिक, उपिय, उपिल और लोप न करने से उपेंद्रदत्तक, इस प्रकार एक नाम छः प्रकार से पुकारा जा सकता था। संभव है बौद्ध साहित्य का उपालि नाम भी उपद्रदत्त का ही छोटा रूप हो। आश्चर्य है कि साँची के लेखों में उपक इत्यादि छोटे रूपों की जगह उपेंद्रदत्त, उपिददत्त, ओपेंद्दत्त, ये बड़े रूप मिलते हैं। पाणिनि में उपक गोत्र-नाम भी है (उपकादिभ्यो गोत्रे २।४।६९)। 'उप' वाले दूसरे नाम उपकंस (जातक ४।७९), उपकंचन (जा० ४।३०५), उपजोतिय (जा० ४।३८२), उपगु (जै० ब्रा०), उपजीव (जै० ब्रा०) मिलते हैं।

(ई) 'क' प्रत्यय नाम के आगे दो अर्थों में जोड़ा जाता था—(१) निंदा के लिये, जैसे शूद्रक, पूर्णक और (२) आशीर्वाद के अर्थ में, जैसे नंदक (नन्दतात् नन्दकः), जीवक (जीवतात् जीवकः, ३।१ १५०)।

पाणिनि के बाद नामों को छोटा करने की प्रवृत्ति ने और जोर पकड़ा। कुछ नए प्रत्यय और नए नियम बन गए, जिनमें चार बातें मुख्य थीं—

(१) नाम के पहले चार अक्षरों को रखकर बाद के अंश का लोप करना; जैसे बृहस्पतिदत्त से बृहस्पतिक, प्रजापतिदत्त से प्रजापतिक।

(२) इक की जगह क प्रत्यय जोड़कर नाम छोटा करना; जैसे देवदत्त से देवक। क प्रत्यय वाले नामों के उदाहरण जातकों में भी हैं, जैसे पद्दक (प्रभाकर, १।४०), सोनक (सोननंद ५।२४७), सचक (सत्ययज्ञ, ६।४७८)। साँची,

भरहुत में तो ऐसे नामों की भरमार है—बलक (बलदेव, बलराम, बलमित्र), पुसक (पुष्यदत्त), धमक (धर्मगुप्त, धर्मदत्त) आदि।

(३) इल की जगह ल प्रत्यय, केवल उकारांत नामों के बाद; जैसे भानुदत्त + इल की जगह भानुल; वसुदत्त + इल की जगह वसुल। राहुल और बंधुल (अा० ४।१४८) इस प्रवृत्ति के प्राचीन उदाहरण हैं।

(४) चौथा सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि प्यार का नाम बनाने के लिये उत्तरपद की तरह पूर्वपद का भी लोप किया जाने लगा; जैसे देवदत्त से दत्तक और यज्ञदत्त से भी दत्तक।

(५) किसी भी प्रत्यय को जोड़े बिना बारी बारी से पूर्वपद या उत्तरपद का लोप करके अनुकंपार्थ नाम बनाना एक नई विधि थी। जैसे, देवदत्त से केवल देव या केवल दत्त भी हो सकता था।

इन सब नियमों पर यदि एक साथ विचार करें तो देवदत्त नाम के नीचे लिखे ग्यारह रूप बन जाते हैं—

देवदत्तक, देवक, देविय, देविल (पाणिनि के अनुसार); देवक, दत्तिक, दत्तिल, दत्तिय, दत्तक, देव, दत्त (पिछले परिवर्तनों के अनुसार)। इस प्रकार हम देखते हैं कि नामों को छोटा करने की प्रवृत्ति में सब तरह की छूट दे दी गई थी। वैदिक काल में यह प्रथा नहीं थी, अथवा उसका साहित्यिक प्रमाण नहीं पाया जाता। पाणिनि के समय में वह विकसित हो चुकी थी। पतंजलि के समय में वह अपने पूर्ण विकास को पहुँच गई। इसी तरह नक्षत्र-आश्रित नाम भी पाणिनियुग की अपनी विशेषता थी। गृह्यसूत्र और बौद्ध साहित्य उसका समर्थन करते हैं। तीसरी विशेषता नामों को संक्षिप्त करने की थी। यह अंतिम बात तो भारतीय नामों के साथ सदा के लिये जुड़ गई। कालांतर में भी प्यार का नाम बनाने के लिये संक्षेप विधि से काम लिया जाता रहा। मध्य काल में इसका बड़ा प्रचलन था। आज भी गाँवों के अधिकांश नाम भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का चोला पहने हुए और संक्षेप नियमों की दृष्टि से पाणिनि-पतंजलि का अनुसरण करते हुए पाए जायँगे।

राम की ऐतिहासिकता एवं रामकथा की प्राचीनता

[श्री राय कृष्णदास]

एशिया के जिस बड़े भूभाग पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव है उसकी सबसे लोकप्रिय एवं व्यापक कथा रामकथा है। पूर्व में स्याम, हिंदचीन और ब्रह्मदेश से लेकर दक्षिण में भारतीय द्वीपसमूह तक इसका प्रसार है। पश्चिमोत्तर में खुतन का अस्तित्व जब तक था तब तक वहाँ भी रामकथा प्रचलित थी और उत्तर में वह तिब्बत में आज भी विद्यमान है। रामकथा की इस व्यापकता का मुख्य कारण यह है कि राम भारत के आदर्शतम राजा थे। उनके अवतार बनने के बहुत पहले से उनकी कथा हमारे जीवन में ओतप्रोत थी। हम आगे देखेंगे कि (१) वाल्मीकि जाने कब से एक बड़ा लोकप्रिय ग्रंथ था; (२) इतना ही नहीं, रामचरित की कहानियाँ तक बन गई थी, जिनमें से एक जातकों में, जो बौद्ध मत से बहुत पहले की चीज हैं, बच रही है। इस कहानी में वाल्मीकि से इस बात की पूर्ण समानता है कि इसके राम भी बड़े धीर, पंडित और सफल शासक हैं, यद्यपि दोनों की कथावस्तु में महदंतर है।

सारांश यह कि राम की मर्यादा-पुरुषोत्तमता ही उन्हें इतना लोकप्रिय बनाने में समर्थ हुई और उसी ने अवतारवाद चलने पर उन्हें अवतारों में इतने पूज्य आसन पर आसीन किया। किंतु आज उन्हीं राम की कथा संदेह की वस्तु हो रही है। पाश्चात्य पुरातत्त्वज्ञों ने उसे अन्योक्ति—वा आख्यानिक—कथामात्र माना है। यदि इन विद्वानों की नीयत पर संदेह किया जाय तो हमें कहने का अधिकार है कि उन्होंने हमारे आदर्श पुरुष को इस प्रकार मिथ्या सिद्ध करने की चेष्टा कर हमारे संग घात किया है। तो भी, उनके मत का खंडन हमारा ध्येय नहीं है। इस विषय का, हमारी समझ में, काफी उत्तर दिया भी जा चुका है। अतः हमारा ध्येय अपने विषय का प्रतिपादन मात्र है। इस प्रतिपादन में यदि हमें सफलता मिले और हमारा हृदय असंशय हो जाय तो फिर दूसरा इस विषय में क्या कहता है, उस ओर हमें दृष्टिपात तक करने की आवश्यकता नहीं।

पौराणिक वंशावलियों में यथास्थान रामचंद्र की जो चर्चा और उल्लेख है वह इतना स्वाभाविक और अप्रयास है कि वह किसी प्रकार ठूँसा हुआ सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतएव उनमें रामचंद्र का उल्लेख उनके ऐतिहासिक अस्तित्व के विषय में पर्याप्त प्रमाण होना चाहिए। पौराणिक वंशावलियों की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता हम यथावसर अन्यत्र सिद्ध करेंगे।

इन पुराण वंशों के सिवा महाभारत में जगह जगह दानी, प्रतापी, विक्रांत एवं यज्ञकर्ता राजाओं की सूचियाँ, प्रशस्तियाँ तथा दानस्तुतियाँ आती हैं। ये सब सूचियाँ बहुत प्राचीन हैं। इनमें 'भारत' से बहुत पहले के राजाओं के नाम आते हैं, कौरव-पांडवों के निकट पूर्वज भी प्रायः इनमें सम्मिलित नहीं हैं। अतः यह प्रत्यक्ष है कि ये सूचियाँ 'भारत' के लिये नहीं गढ़ी गईं, बल्कि ये वास्तविक प्राचीन सामग्री हैं जो 'भारत' में संहित मात्र कर दी गई हैं। प्रायः इन सभी तालिकाओं में रामचंद्र का नाम सम्मिलित है। ध्यान रहे कि इनमें के राम एक प्रतापी राजा मात्र हैं, जिस प्रकार इनमें आनेवाले अन्य नरपति हैं। वे अवतार तो क्या, पुरुषोत्तम के रूप में वहाँ गिने गए हों, सो तक नहीं। यह बात भी उन सूचियों की प्राचीनता और वास्तविकता की प्रतिपादक है। अतः इन सूचियों की साक्षी भी राम के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है।

इन सूचियों में से दो यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो सभापर्व में राजसूय करनेवाले राजाओं की, जो दो कारणों से बहुत प्राचीन जँचती है— एक तो उसमें हरिश्चंद्र का इंद्र के साथ एक आसन पर बैठे होना; दूसरे परशुराम की गणना राजाओं में होना। हरिश्चंद्र का इंद्र के संग अर्धासन इसलिये है कि पहले-पहल उन्हीं ने वरुण संप्रदाय का त्याग करके इंद्र संप्रदाय के अनुयायित्व में राजसूय यज्ञ का प्रचलन किया था। यह एक ऐसी बात है जिसकी स्मृति पिछले काल में नहीं रह गई थी। इसी प्रकार परशुराम ने हैहयों के संघ राज्य का विनाश करके एक निःक्षत्र प्रजासत्ताक राज्य की स्थापना की थी जिसके वे सूत्रधार थे। पीछे से उनकी गणना सर्वदा ऋषियों में की गई है, केवल प्राचीन स्थलों में ही वे राजा माने गए हैं। अस्तु, इस तालिका में रामचंद्र भी हैं।

इसी प्रकार दूसरी सूची भीष्मपर्व के आरंभ में है जहाँ भारतवर्ष की महिमा कहते हुए प्राचीन राजाओं के नाम गिनाए गए हैं। उनमें इंद्र भी आए हैं। यह एक बड़ी पुरानी बात है, क्योंकि इंद्र वस्तुतः एक पुराने राजा ही थे।

यदि वह सूची इधर की होती तो राजाओं के बीच इंद्र न बैठाए गए होते। इन प्राचीन प्रतापी राजाओं में भी रामचंद्र का नाम है।

उक्त तालिकाओं के सिवा 'भारत' में षोडशराजीय नामक एक उपाख्यान आता है। इसमें सोलह प्राचीन चक्रवर्तियों की विरुदावली है। इस उपाख्यान की भाषा तथा शैली 'ब्राह्मणों' के सन्निकट है। इसके अनुष्टुप् की गति भी वैदिक ढंग की है। 'भारत' में यह दो बार आता है। इन दोनों रूपों में कुछ अंतर है, अर्थात् ये दोनों एक ही मूल की दो शाखाएँ हैं। इस प्रकार वस्तु, भाषा, शैली एवं छंद की प्राचीनता तथा वाचना-भेद के कारण यह षोडशराजीय एक बहुत पुराना उपाख्यान सिद्ध होता है। अतः यह निश्चित है कि 'भारत' में जैसे अन्य कितनी ही बिखरी हुई सामग्री इकट्ठी की गई है वैसे ही यह भी है। इस उपाख्यान के सोलह चक्रवर्तियों में भी दाशरथि राम हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'भारत' में द्वापर से कहीं पहले के गण्य मान्य राजाओं के विषय में जो बहुत पुराना मसाला संकलित है उसमें प्रायः सर्वत्र रामचंद्र का नाम विद्यमान है। उस साहित्य में वर्णित व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी ऐतिहासिकता पर शंका करने का कोई हेतु है ही नहीं। ऐसी दशा में उनके बीच एक कल्पित व्यक्ति का नाम घुसा देने का कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं जान पड़ता। अतएव इन प्रमाणों से रामचंद्र की ऐतिहासिकता निर्विवाद प्रमाणित होती है।

किंतु रामचंद्र और उनकी कथा के संबंध में उपर्युक्त उल्लेख केवल एक श्रेणी के साहित्य में हुए। अब देखना यह है कि इनके अतिरिक्त अन्य प्राचीन ग्रंथों के सहारे रामचंद्र के अस्तित्व की प्राचीनता कहाँ तक पहुँचती है। इसके लिये इधर के समय से अनुक्रमपूर्वक प्राचीन काल की ओर बढ़ना ठीक होगा।

इस दृष्टि से हमारा ध्यान सबसे पहले महाभाष्य की ओर जाता है, जिसका समय आरंभिक शुंगकाल है; उससे इधर के साहित्य में तो रामचंद्र की कथा के अस्तित्व के संबंध में कोई शंका ही नहीं उठती।

महाभाष्य में केवल रामचंद्र का उल्लेख ही नहीं है, वाल्मीकि से भिन्न किसी अन्य रामायण से दो श्लोक भी उद्धृत हैं, जिससे प्रमाणित होता है कि उस समय रामकथा के एकाधिक रूप प्रचलित थे। दूसरों शब्दों में, वह काफी प्राचीन हो चुकी थी।

महाभाष्य से कोई दो सौ वर्ष पहले, चंद्रगुप्त मौर्य के समय में कौटल्य ने अर्थशास्त्र का निर्माण किया। इसमें जहाँ राजाओं के नाश के कारणों के उदाहरण दिए हैं वहाँ कहा है कि पर-स्त्री के हरण से रावण का नाश हुआ। इस घटना में सारे रामायण का सारांश निहित है। अर्थात् चंद्रगुप्त के समय में रामचरित एक प्रामाणिक इतिवृत्त था जो राजशास्त्र में उदाहरणरूप उपस्थित किया जाता था।

रामकथा का इससे प्राचीन प्रमाण पाणिनि की अष्टाध्यायी से प्राप्त होता है। पाणिनि के समय के संबंध में मुख्य दो मत हैं। अधिकांश विद्वान् उन्हें नंदों के समय का मानते हैं। कुछ विद्वानों ने उनका समय ई० पू० आठवीं शती तक माना है।

यह ठीक है कि पाणिनि व्याकरणकार थे, कुछ इतिहास लिखने नहीं बैठे थे; उनकी अष्टाध्यायी में प्रत्येक घटना का सूत्र खोजना एक सहक भर है। उसके अभावात्मक प्रमाण से इतिहास का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। फिर भी, शब्दशास्त्र होने के कारण अष्टाध्यायी में अनेक शब्दों के रूप सिद्ध वा स्थिर किए गए हैं। इनमें अनेक ऐसे हैं जिनसे सांप्रत पुराविदों की साध पूरी हो जाती है। निदान, पाणिनि के कई ऐसे स्थलों में रामायण के कुछ पात्रों के नाम भी आए हैं। स्वर्गीय न्यायमूर्ति तैलंग ने अष्टाध्यायी में साधित कौसल्या और कैकेयी शब्दों की ओर विद्वानों का ध्यान बहुत पहले आकृष्ट किया था। इसी प्रकार पाणिनि ने अपने गण-पाठ में रावण को विश्रवस् शब्द से व्युत्पन्न प्रतिपादित किया है। समस्त प्राचीन साहित्य में रावण विश्रवस् का पुत्र है। किंतु उस विश्रवस् के अपत्य के लिये रावण शब्द बन जाना एक विलक्षण बात है जो वर्तमान पुरातत्त्वज्ञों के इस मत को पुष्ट करती है कि रावण शब्द अनार्य भाषा का है क्योंकि, ऐसी दशा में ही उसकी ऐसी खींची-तानी व्युत्पत्ति सकारण जँचती है। इससे सयुक्तिक और सीधी तो रावण शब्द की पौराणिक व्युत्पत्ति—लोकरावण रावणः—है। किंतु पाणिनि का उसे न देकर उक्त आभिजात्य संबंधी व्युत्पत्ति स्थिर करना यही प्रमाणित करता है कि रावण शब्द का संबंध राक्षसराज के आभिजात्य से था; वर्तमान खोज से भी यही प्रतिपादित होता है कि रावण शब्द आभिजात्य-वाची है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रावण शब्द की व्युत्पत्ति देने की आवश्यकता पाणिनि को इसी कारण पड़ी कि वह राम का प्रतिनायक था; अन्यथा इस रूप को सिद्ध करने की उन्हें कोई अपेक्षा न थी।

इसी प्रकार अपने एक सूत्र द्वारा उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि 'शूर्प' शब्द के साथ जब 'नख' शब्द आता है तो उसका 'न' 'ण' में बदल जाता है। सारे संस्कृत साहित्य में 'शूर्प' और 'नख' शब्द का संयोग केवल रामायण की शूर्पणखा में होता है; अतएव, उसी शब्द के लिये उन्होंने यह सूत्र रखा है, इसमें कोई शंका नहीं हो सकती।

कालानुक्रम से पाणिनि के ऊपर बौद्ध साहित्य की पड़ताल करनी होगी। बौद्ध साहित्य का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक अंश त्रिपिटक है, जिसमें भगवान् बुद्धदेव के उपदेश संनिहित हैं। बौद्ध स्थविरों ने बड़ी लगन से उसे ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। बुद्धदेव के इन उपदेशों में कहीं भी रामचंद्र का प्रसंग वा उपाख्यान नहीं आया है। किंतु, इसी त्रिपिटक के एक अंश में जातक कथाओं की गाथाएँ संकलित हैं।

जातक उन कथाओं का नाम है जिन्हें कोई प्रसंग आ पड़ने पर बुद्ध भगवान इस रूप में कहते हैं कि ऐसी घटना पहले भी हो चुकी है। वे किसी देवयोनि, राजा, राजकुमार, पशुपक्षी वा अन्य स्थावर जंगम की कहानी सुनाकर अंत में वर्तमान घटना के पात्रों से उसके पात्रों का समीकरण करते हुए बताते हैं कि मैं ही उसमें का अमुक था तथा वर्तमान अमुक अमुक उस समय के, अमुक अमुक थे। इन कथाओं के बीच बीच में गाथाएँ आती हैं—पात्रों के संवाद प्रायः गाथा-छंदोमय ही होते हैं। ये जातक कथाएँ वस्तुतः बहुत पुरानी लोककथाएँ हैं जो बुद्ध के जाने कितने पहले से चली आती थीं और जिनमें से कितनी ही आज भी किसी न किसी रूप में हमारी कहानियों में मिलती हैं। इनमें से कितनी ही का संबंध उन ऐतिहासिक पूर्वपुरुषों से है जो बुद्धदेव के बहुत पहले हो चुके थे, अतएव जो वदिक, पौराणिक एवं बौद्ध तथा जैन साहित्य में समान रूप से आते हैं। इन्हीं प्रचलित उपकथाओं का उपयोग बुद्धदेव ने दृष्टांत की भाँति किया है, जो उस समय की भाषा में, ब्राह्मणग्रंथों की उपाख्यान शैली पर, गद्य-पद्य में प्रचलित थीं। फलतः उनमें जो गाथाएँ हैं वे बुद्धदेव की रचना नहीं, उन्हीं कथाओं की अंग, अतएव बहुत प्राचीन हैं, ठीक उसी तरह जैसे आज भी मालवा-राजपूताना-काठियावाड़ के चारणों की कहानियों के बीच बीच में आनेवाले दोहे और सोरठे। हम लोग अपने बचपन में वृद्धाओं से जो कहानियाँ सुनते आते हैं उनमें भी कितनी ही ऐसी हैं जिनमें परंपरा से स्थान स्थान पर बँधे हुए पद्य चले आते हैं। जिस

प्रकार इन दोहों एवं पद्यों में "कथाओं के बीज", पात्रों के संवाद, प्रचलित उक्तियाँ, नीति, उपदेश, सिद्धांत, संयोग तथा वियोग शृंगार के प्रेमोद्गार, ऋतुवर्णन, प्रशस्तियाँ, कहावतें, पहेलियाँ, समस्यापूर्तियाँ इत्यादि हैं—अर्थात् वह सामग्री है जो अलिखित दंतकथाओं में सर्वदा सर्वत्र सुरक्षित रहती है—ठीक उसी प्रकार जातक गाथाओं में भी यही सब सामग्री है। अवश्य ही ये गाथाएँ कहानी कहनेवालों की नहीं हैं, वे बहुत प्राचीन हैं। वस्तुतः इन गाथाओं का उन कथाओं में वही पद है जो विशेष राजाओं के यज्ञ और दान की प्रशंसा की अभियज्ञ गाथाओं का 'ब्राह्मणों' में। ऐतरेय और शतपथ में ऐंद्र महाभिषेक और अश्वमेध आदि के प्रसंग पर ऐसी नाराशंसी गाथाएँ दी गई हैं जो अवश्य ही 'ब्राह्मणों' की रचना के समय लोक में प्रचलित थीं, और जिन्हें 'तदेषा अभियज्ञ गाथा गीयते' कहकर ब्राह्मणों में इसी रूप में उद्धृत किया है। वे तथा वैसी ही अन्य कितनी गाथाएँ महाभारत आदि में भी उद्धृत हैं। 'ब्राह्मणों' में जो उपाख्यान आए हैं उनके संवादों में भी ठीक ऐसी गाथाएँ मिलती हैं।

इन जातक गाथाओं का छंद सर्वत्र अनुष्टुप् है। इस संबध में एक विशेष बात यह है कि उनमें प्रायः छंदोभंग वा टूट पड़ती है। किंतु यदि उनका पाली रूप संस्कृत में पलट दिया जाय तो यह दोष दूर हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि पाली में आने के पहले वे उस भाषा में थीं जिसकी विभक्तियाँ और प्रत्यय संस्कृत तुल्य थे, अर्थात् वे किसी समय 'ब्राह्मणों' की भाषा मे रही होंगी। अतः उनके परंपरागत होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। इन सब बातों पर ध्यान देते हुए इन गाथाओं के अस्तित्व की परसीमा कम से कम बुद्ध से दो सौ वर्ष पहले तथा पूर्वसीमा उनसे पाँच सौ वर्ष पहले माननी पड़ेगी। इस प्रकार उनका समय ई० पू० आठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक ठहरता है।

इन जातक गाथाओं में से कई रामचरित से संबंध रखनेवाली हैं, इसपर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कि इन गाथाओं के कारण रामकथा की प्राचीनता ई० पू० आठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक पहुँच जाती है।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य में संगृहीत जातक गाथाओं के अस्तित्व-काल को पारकर हम स्वभावतः वैदिक साहित्य में पहुँचते हैं। इस संबंध में यह स्मरण रहे कि वैदिक साहित्य धार्मिक वाङ्मय है, अतः उसमें ऐहिक वा राजनीतिक विषयों को ढूँढ़ना सरासर भूल है। उसमें तो ऐसी चर्चा वहीं आई है जहाँ

किसी धार्मिक प्रसंग से उनका कोई संबंध है। सो भी, उनमें ऐतिहासिक दृष्टि या विवेचना का सर्वथा अभाव है, और ऐसा होना स्वाभाविक है। धार्मिक रचना करनेवाला ऐतिहासिक जाँच-पड़ताल करने नहीं बैठता। दूसरी बात यह है कि जिन व्यक्तियों के संबंध में ऐसी चर्चा हुई है, यह आवश्यक नहीं कि वे पुराण-साहित्य में प्रसिद्ध हों, और उसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि पुराण-प्रसिद्ध व्यक्तियों की चर्चा वैदिक साहित्य में आई हो, क्योंकि प्रसिद्धि के संबंध में दोनों के मानदंड बिलकुल भिन्न हैं। एक धार्मिक साहित्य है, दूसरा ऐतिहासिक। पार्जिटर ने अपने अमूल्य ग्रंथ 'एंशेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन' में पृष्ठ ६ से ८ तक तथा ४२-४३ में इस विषय का बड़ा विशद और विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।

रामकथा भी उन्हीं वृत्तांतों में से है जिनका वेद-मंत्रों में कोई उल्लेख नहीं है।[1] इन्हीं वेदमंत्रों के याज्ञिक प्रयोग के लिये 'ब्राह्मण' साहित्य का निर्माण हुआ। इनका रचनाकाल वेदों के संहित होने के बाद अर्थात् गाथाकाल से कुछ पहले, लगभग ई० पू० तेरहवीं-चौदहवीं शती पड़ता है। 'ब्राह्मणों' में याज्ञिक क्रियाकलाप की मीमांसा में प्रसंगवश पुराने उपाख्यान और घटनाएँ भी आई हैं। किंतु ब्राह्मण-कारों का दृष्टिकोण ऐतिहासिक न होने के कारण उनका रूप इस दृष्टि से विशेष प्रामाणिकता नहीं रखता। साथ ही उनका निर्माणक्षेत्र भी मंत्रों की तरह कुरुपांचाल जनपद होने के कारण उनकी बातें, अपने आधार-मंत्रों की भाँति एकांगी ही हैं।

तो भी शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर रामचंद्र के अनुज भरत की भूली-भटकी स्मृति मिलती है। शतपथ (१३।५.४.९ तथा २१) के अनुसार भरत ने सत्वतों का आश्वमेधिक अश्व रोक लिया था। यहाँ भरत से, शतपथ का अभिप्राय दुष्मंत-पुत्र भरत से है, क्योंकि इसी प्रसंग में वह लिखता है कि ये—भरत की संतान, 'भरताः'—सभी राजाओं से बढ़चढ़कर थे।

१—इसका एक और कारण हो सकता है। वैदिक साहित्य का उपलब्ध अंश उसका केवल वह भाग है, जो भरतों (अथवा उनकी मुख्य जातियों, कुरुपांचालों) के वैभव में पल्लवित हुआ। एक तो वेदों के संकलयिता कृष्ण द्वैपायन भरतों ही से संबंधित थे, दूसरे जिस समय उन्होंने मंत्रों को संहित किया उसके कई सौ वर्ष पहले ऐक्ष्वाकों का प्रताप-सूर्य अपराह्न में पहुँच चुका था; फलतः उस समय तक मंत्र-भाग की वे शाखाएँ नष्टप्राय हो चुकी रही होंगी जिनका संबंध इक्ष्वाकु-वंश से था। इन कारणों से यही संभावित है कि वेद की ऐक्ष्वाक वाचनाएँ वेदव्यास के संग्रह में प्रायः नहीं आई हैं। यदि मंत्र-भाग का वह अंश उपलब्ध होता तो उसमें रामचंद्र की पूर्ण प्रशस्ति, अवश्य मिलती।

किंतु दौष्मंति भरत सत्वतों वा सात्वतों के बहुत पहले हो चुके थे, जैसा कि पार्जिटर द्वारा निर्धारित तुल्यकालता तथा वंशावलियों से स्पष्ट है।[२] हाँ, रामचंद्र तथा उनके भाई भरत अवश्य सत्वतों के समकालीन थे और शत्रुघ्न ने उन्हें (सत्वतों को) विजय भी किया था तथा रामचंद्र ने भरत को उनका राजा बनाया था। ऐसी अवस्था में यही मानना पड़ेगा कि शतपथ की यह कथा उसी ऐक्ष्वाक-सात्वत संघर्ष की प्रति ध्वनिमात्र है जिसे उस 'ब्राह्मण' ने ऐक्ष्वाक भरत के स्थान पर दौष्मंति भरत पर आरोपित कर दी है, क्योंकि वह (शतपथ) भरत की संतानों—भरतों, कुरु-पांचालों—की छत्रछाया में निर्मित हुआ और उसके रचयिता की दृष्टि में अपने आश्रयदाता के मूल पुरुष भरत ही एकमात्र भरत थे।

वैदिक मंत्र-भाग में रामचद्र का उल्लेख ढूँढ़ने की व्यर्थता के संबंध में हम ऊपर अपनी दलीलें दे चुके हैं; फिर भी ऋग्वेद में एक मंत्र आता है जिसके संबंध में कई विद्वानों की राय है कि इसमें रामचंद्र की चर्चा है। दशरथ का नाम भी ऋग्वेद में कई बार आता है, किंतु निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन स्थलों में रामचंद्र के पिता का ही उल्लेख वा अभिप्राय है।

ऊपर जो पड़ताल हुई है उससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रामचंद्र की चर्चा ई० पू० दूसरी शती से लेकर आठवीं-नवीं शती तक के वाङ्मय में असंदिग्ध रूप से विद्यमान है। यही नहीं, जातकों की गाथाओं की रचना के समय भी रामकथा विद्यमान ही नहीं थी, काफी प्राचीन हो चुकी थी। इसका प्रमाण इससे बढ़कर क्या हो सकता है कि उस समय वह लोककथा में आ चुकी थी और उसके एकाधिक रूप प्रचलित थे? संभव है, इन रूपों के सिवा उसके और रूप भी लोक में रहे हों। इसके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिससे रामचंद्र का न होना प्रमाणित हो। प्रत्युत, उसमें इस विषय का जो आभास मिलता है उससे उनकी सत्ता प्रतिपादित ही होती है। पुराण-इतिहास में, जो हमारे प्राचीन इतिहास का प्रामाणिक और वास्तविक स्रोत है, उनके उल्लेख की चर्चा हम इस लेख के प्रारंभ में ही कर चुके हैं।

जिस व्यक्ति के अस्तित्व के विषय में हजारों बरस तक फैले हुए प्रमाण उपलब्ध हों वह कल्पनाप्रसूत हो, यह असंभव है। किसी कल्पना-

---

२—पार्जिटर, 'एंशेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन', अध्याय १२ से १४ तक।

प्रस्तुत चरित के संबंध में न तो ऐसे प्रमाण मिल सकते हैं, न वह इतने समय तक जीवित ही रह सकता है।

यहाँ तक राम की ऐतिहासिकता पर विचार करने के बाद अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि रामकथा का वाल्मीकीय रूप कितना प्राचीन है।

भारत के प्राचीन वाङ्मय के स्मार्त अंश मे रामकथा मुख्यतः वाल्मीकि रामायण, महाभारत के रामोपाख्यान, पुराणों के वंशानुचरित, पद्मपुराणांतर्गत रामायण तथा अध्यात्म रामायण में है। उसके बौद्ध अंश में वह दशरथ जातक में है और जैन अंश में जिनशेणाचार्य के रामायण आदि में है।

इनमें से स्मार्त ग्रंथोंवाला वाल्मीकि ही सबसे प्रामाणिक और अनुश्रुति के अनुसार सबसे प्राचीन है। शेष ग्रथ या तो उसी के सारांश या पल्लवन एवं अतिरजन है। जैन रामायण तथा अध्यात्म बहुत इधर के हैं, फलतः ऐतिहासिक विवेचन में उनका कोई महत्त्व नहीं है। फिर भी, इनकी कथाएँ वाल्मीकि के विपरीत नहीं हैं, अर्थात् इन सब कथाओं की धारा एक है; किंतु जातक की रामकथा की धारा उक्त धारा से बिलकुल भिन्न है। उसका सारांश इस प्रकार है--

एक समय वाराणसी में दशरथ नामक राजा धर्मपूर्वक राज्य करते थे। उनकी सोलह हजार रानियों में की पटरानी से उन्हें दो पुत्र और एक कन्या हुई। ज्येष्ठ पुत्र का नाम राम पंडित, कनिष्ठ का लक्खन कुमार और कन्या का सीता देवी था।

कुछ काल में पटरानी का देहांत हो गया। अपने सदस्यों के समझाने से राजा ने बहुत काल उपरांत, किसी दूसरी को पटरानी बना दिया। उनको भी भरतकुमार नामक पुत्र हुआ।

एक दिन राजा ने इस पटरानी से कहा—देवि, मैं तुम्हें एक वर देता हूँ, माँगो। रानी ने स्वीकृतिपूर्वक कहा—फिर माँग लूँगी। जब उनका पुत्र सात बरस का हुआ तो रानी ने वर की याद दिलाकर अपने पुत्र के लिये राज्य माँगा। राजा ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया—क्या मेरे दोनों पुत्रों को मारकर अपने पुत्र को राज्य दोगी? रानी डरकर अपने भवन को भाग गई, किंतु नित्य वही वर माँगती रही। राजा डरे कि कहीं यह मेरे पुत्रों को समाप्त न करा दे। उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर कहा कि किसी दूसरे देश या वन चले जाओ और मेरी मृत्यु के बाद आकर अपना पैत्र-पैतामह राज्य करो। दैवज्ञों से पूछकर राजा ने अपनी आयु बारह वर्ष और जानी, अतः अपने पुत्रों से उन्होंने बारह वर्ष पर लौटने को कहा। वे लोग पिता से विदा होकर रोते हुए चल पड़े। सीता देवी ने उनका साथ दिया।

अनेक लोग उनके संग हुए। उन्हें लौटाकर चलते चलते वे हिमालय पहुँचे। वहाँ एक स्थान पर उन्होंने अपना आवास बनाया और वन्य फलों पर काल-

क्षेप करने लगे। लक्खन पंडित और सीता ने राम पंडित से कहा—आप हमारे पितृ-स्थानीय हैं, आप यहीं कुटी में रहा करें। मैं आपका आहार लाया करूँगी। यही क्रम चला।

उधर पुत्र-वियोग में दशरथ घुलने लगे और नवें बरस ही गत हो गए। भरत की माता ने चाहा कि उसके पुत्र को राज्य मिल जाय, किंतु परिषद् ने इसे स्वीकार न किया। भरत ने कहा कि मैं अपने भाई राम पंडित को वन से लाकर गद्दी पर बैठाऊँगा। पाँचों राजचिह्न तथा चतुरंगिणी सेना लेकर वे वन को गए और आश्रम से कुछ दूर सेना छोड़कर कई अमात्यों के संग कुटी पर पहुँचे। उस समय राम कुटीर के द्वार पर स्वर्णप्रतिमा की तरह दृढ़ बैठे हुए थे। लक्खन तथा सीता वन से फल बटोरने गई थीं। राम से सब वृत्तांत कहकर भरत रोने लगे, किंतु राम ज्यों के त्यों रहे। संध्या होते होते लक्खन तथा सीता वन से लौटे। राम ने मन में विचार किया कि अभी ये बच्चे हैं, यह दुःखद समाचार न सह सकेंगे। अतएव क्रोध दिखाते हुए उन्होंने कहा—तुमने आज देर की; तुम्हारा यही दंड है कि सामने के जलाशय में खड़े रहो। वे तुरत पानी में उतर गए, तब राम ने उन्हें वह दुःखद समाचार सुनाया। सुनते ही वे मूर्छित हो गए, तीन बार ऐसा ही हुआ। तब अनुचरों ने उन्हें बाहर किया।

बाहर निकलने पर भी वे रोते कलपते रहे, किंतु राम पंडित ज्यों के त्यों रहे। भरतकुमार ने उनसे इसका कारण पूछा। राम पंडित ने उनसे शरीर की नश्वरता, मृत्यु की अवश्यंभाविता आदि के संबंध में कई गाथाएँ कहीं। सारा समाज उनको अनित्यता का सिद्धांत सुनकर विगतशोक हो गया। भरत ने प्रणत होकर राम से वाराणसी का राज्य लेने को कहा। उन्होंने उत्तर दिया कि तुम लक्खन और सीता को ले जाओ और सब मिलकर राज्य करो। मैं पिता की आज्ञा भंग न करूँगा। शेष तीन वर्ष बीतने पर लौटूँगा।

भरत ने भी राज्य करने से इनकार किया। तब राम ने कहा कि मेरी पादुका ले जाओ, यह शासन करेगी; और अपनी कुश की पादुका उन्हें दे दी। उसे लेकर लक्खन सीता और भरत वाराणसी लौट आए।

तीन बरस तक राम-पादुका ने राज्य किया। जब कोई न्याय करना होता था तो मंत्री उसे सिंहासन पर रख देते थे। यदि न्याय ठीक होता तो वह ज्यों की त्यों रहती, अन्यथा आपस में टकराने लगती और तभी शांत होती जब सच्चा न्याय हो जाता था।

तीन वर्ष बाद राम पंडित वन से लौटे और सीता को राजमहिषी बनाया। प्रजा एवं मंत्रिमंडल ने उन्हें सिंहासनारूढ़ किया और सोलह हजार वर्ष राज्य करके वे दिवंगत हुए।

इस कथा को लेकर विद्वानों ने बड़े बड़े अनुमान लगाए हैं और इसे ही रामोपाख्यान का प्राचीनतम रूप माना है। किंतु उनकी उपपत्तियाँ निःसार हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि जातक की गाथाएं त्रिपिटक में संगृहीत हैं और वे बहुत पुरानी हैं। किंतु वहाँ केवल गाथाएं भर संगृहीत हैं, फलतः वहाँ वे बिलकुल

असंबद्ध और तात्पर्यहीन हैं। अपनी अपनी कथाओं में खचित होने पर ही वे सार्थ और संबद्ध होती हैं।

ये कथाएँ त्रिपिटक के संकलन के बहुत समय बाद तक मौखिक परंपरा से चलती रहीं। हाँ, ई० पू० पहली-दूसरी शती से ई० तीसरी शती तक उनमें से बहुतेरी कथाओं के दृश्य भरहुत, साँची, मथुरा, अमरावती तथा नागार्जुन कोंडा आदि में पत्थरों पर उत्कीर्ण अवश्य किए गए। अस्तु, *मौखिक परंपरा से पहले-पहल वे सिंहली भाषा में, सिंहल में लिखी गईं*। उनमें गाथा मात्र अपने मूल पाली रूप में लिखी गईं। फिर ई० छठीं शती में किसी अज्ञात लेखक ने उन्हें पाली रूप दिया। जातकों का यही पाली रूप आज जातकमाला नाम से उपलब्ध है, जिसका एक प्रामाणिक संस्करण अध्यापक फौशबौल ने रोमन लिपि में प्रकाशित किया है।

जातक के इस रूप के संबंध में विद्वानों की प्रायः एकस्वर से *यही राय* है कि इसमें कथाओं के रूप और ब्योरे प्रायः उसी रूप में सुरक्षित हैं जिसमें वे परंपरा से चले आते थे। अतः भारत में बुद्धयुग के पूर्व जो धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय रीति-नीति प्रचलित थी उसका इनमें पूरा स्वरूप निहित है।

किंतु बुद्ध के समय से जब तक सिंहली भाषा में जातक कथाएँ पहली बार साहित्यिक रूप में नहीं आईं, उसके लिये यदि आठ सौ वर्ष का समय (ई० दूसरी शती तक) भी रख लिया जाय तो भी यह बात बिलकुल ही युक्तिसंगत नहीं कि मौखिक परंपरा में, सो भी कहानी ऐसी चीज की वस्तु और विन्यास में कोई परिवर्तन न हुआ हो। कुछ जातक ऐसे भी मिलते हैं जिनकी गाथाओं का उनकी वस्तु से कोई मेल नहीं है। ऐसे जातक प्रमाणित करते हैं कि जातकों की वस्तु-परंपरा विकृत हो गई है। अतः उनके ब्योरों की प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों का आग्रह दुराग्रह मात्र है।

सारांश यह कि जातकों की गाथा भर प्राचीन—बुद्ध से भी पहले की—हैं। उनकी वस्तु बहुत बाद को लिपिबद्ध हुई। तिसपर से, एक तो उसका प्रथम सिंहली रूप अब अप्राप्य है (अनुवाद कितना ही शाब्दिक क्यों न हो, उसका मूल से भेद अवश्यंभावी है), दूसरे यह नितांत असंभव है कि एक ऐसा साहित्य जिसका आधार कल्पना हो और जो ऐसी मुखपरंपरा से चलता रहे जिसमें ऐतिह्य बुद्धि

का अभाव हो, उसी रूप में बना रहे जिसमें वह सुनाया गया हो (वर्तमान प्रसंग में बुद्धदेव द्वारा)।

तो भी इस संबंध में हमें विशेष आग्रह नहीं है जातक कथाएँ वस्तुतः लोककथाएँ हैं, उनमें कितने ही प्रामाणिक आख्यानों के उपरूप मिलते हैं। अतएव यदि हम मान भी लें कि दशरथ जातक पुराना ही है, तो उससे केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि राम का चरित बहुत पहले से लोक में प्रचलित था, फलतः उसका यह रूपांतर होना संभव हुआ।

लोककथा में किसी इतिहास वा चरित का क्या से क्या रूप हो जाता है, यह बात छिपी नहीं है। रामकथा, कृष्णचरित तथा सावित्री-उपाख्यान के आज भी हमने कहानियों में ऐसे रूप सुने हैं जो उनसे कहीं भिन्न हैं और जिनमें इनके पात्र केवल 'राजा'-'रानी' रह गए हैं। तो भी हैं वे निस्संदेह उक्त उपाख्यान ही।

अस्तु, हमारा प्रतिपाद्य विषय यह था कि रामकथा का वाल्मीकीय रूप ही सबसे प्रामाणिक तथा अनुश्रुति के अनुसार सबसे प्राचीन है, अतः इसका वह रूप जातकीय गाथाओं के समय में विद्यमान था। इसके प्रमाण के लिये कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं, वह एक जातकीय गाथा में ही प्रस्तुत है। इस गाथा में रामकथा से संबंध रखनेवाली दो बहुत महत्वपूर्ण घटनाएँ निहित हैं, जिनका एक ओर तो दशरथ जातक से पूर्ण विपर्यय है और दूसरी ओर वाल्मीकीय रामायण से पूर्ण सामंजस्य। इनमें से पहली घटना तो यह है कि राम के वन-गमन के समय उनकी माता कौसल्या जीवित थीं। दूसरी यह कि राम वनवास के लिये *दंडकारण्य* गए थे, दशरथ जातक की भांति हिमालय नहीं। सच्ची बात तो यह है कि इसमें *कौसल्या* शब्द में राम-वनवास के पूर्व की और *दंडकारण्य* शब्द में उसके बाद की सभी रामायणीय घटनाएँ विवक्षित हैं। इस गाथा के सामने दशरथ जातक के पक्ष में कोई भी प्रमाण नहीं टिक सकता। यह इस बात का प्रमाण है कि *रामकथा का वास्तविक वाल्मीकीय रूप बुद्धदेव से कई शती पहले विद्यमान था*। जैसा ऊपर कह आए हैं, दशरथ जातक को राम कथा का मूल रूप मानना नितांत भ्रम है। वह तो बौद्धों को भी मान्य नहीं था; उन्हें वाल्मीकीय रूप ही मान्य था, यह इसी से सिद्ध है कि अश्वघोष ने वाल्मीकीय रूप को ही ग्रहण किया है, जातक कथा की कोई चर्चा नहीं की है।

ऐसा अनुमान होता है कि बड़े बड़े उपाख्यान-ग्रंथों के निर्माण की प्रथा बहुत प्राचीन है, जिस श्रेणी का ग्रंथ रामायण भी है। 'भारत' में जितने बड़े बड़े उपाख्यान आए हैं उनमें से किसी भी घटना का काल राम से इधर का नहीं है। इनमें से जिस प्रकार रामोपाख्यान 'वाल्मीकि' का मर्म है उसी प्रकार अन्य उपाख्यान भी अन्य स्वतंत्र रचनाओं पर अवलंबित होने चाहिएँ। यह दूसरी बात है कि आज उनके आधार-ग्रंथ अप्राप्य हैं। वे ग्रंथ रामायण के समान लोकप्रिय न थे, अतएव समय पाकर नष्ट हो गए; केवल उनके संक्षिप्त रूप 'भारत' में बच रहे हैं, जिनसे इस प्रकार के ग्रंथों की प्राचीनता भली भाँति प्रतिपादित होती है।

पाणिनि ४।२।६० और उसपर के महाभाष्य से ज्ञात पड़ता है कि विभिन्न आख्यानों के विशिष्ट ज्ञाता होते थे; यथा यवक्रीत के आख्यान का ज्ञाता यावक्रीत, ययाति के आख्यान का ज्ञाता यायातिक। यदि ऐसे आख्यानों का स्वतंत्र और विशद अस्तित्व न होता तो ऐसे नाम न पड़ते और न इस सूत्र के महार्थ की ही आवश्यकता होती। इससे भी प्रमाणित होता है कि आज जिन आख्यानों को हम भारत में संकलित देखते हैं वे एक समय स्वतंत्र ग्रंथ थे।

अस्तु, रामायण के संबंध में अनुश्रुति यह है कि वाल्मीकि ने उसे रामचंद्र के समय में रचा था। अब देखना चाहिए कि रामायण की प्राचीनता कहाँ तक पहुँचती है।

बुद्धचरित में अश्वघोष ने वाल्मीकि को पद्य का जन्मदाता माना है। यह अनुश्रुति उनके समय में जब काफी पुरानी रही होगी तभी उन्हें ग्राह्य हुई होंगी। इतना ही नहीं, यह उस समय की होनी चाहिए जब बौद्ध मत का उदय नहीं हुआ था; तभी यह बौद्ध और ब्राह्मण दोनों को समान रूप से मान्य हो सकती है। बात है भी ऐसी ही; अश्वघोष ने इस अनुश्रुति के साथ और भी इसी तरह की कई अनुश्रुतियाँ दी हैं, वे सभी बहुत पुरानी हैं। अर्थात् यह असंदिग्ध है कि वाल्मीकि ई० पू० छठी शती के पहले आदिकवि के रूप में लोकसम्मत हो चुके थे। उनके संबंध में यह भावना उनकी रामायण-रचना से ही उत्पन्न हुई थी और उसके उत्पन्न होने के लिये रामायण के निर्माण के बाद काफी समय बीत जाना चाहिए, जब कि लोग वाल्मीकि के कुल-वाचक 'कवि' शब्द के वास्तविक अर्थ को भूल

गए हों। इस विस्मृति के लिये पाँच सौ वर्ष का समय तो चाहिए ही। इस प्रकार रामायण का रचनाकाल ई० पू० ग्यारहवीं शती तक पहुँचता है।

ऊपर हमने देखा है कि जातक गाथाएँ ई० पू० आठवीं-नवीं शती से इधर की नहीं हो सकतीं। इन गाथाओं में से जो रामायण संबंधी हैं उनमें से दो तीन रामायण के ही श्लोकों की वाचनाएँ हैं। इनका तात्पर्य यह कि उस समय वाल्मीकि के श्लोक रामचंद्र की लोककथा में आ चुके थे, जैसे आजकल तुलसी की चौपाइयाँ और दोहे लोक में चल रहे हैं। इस युक्ति पर यदि यह आपत्ति की जाय कि लोकगाथाएँ ही वाल्मीकि रामायण में सम्मिलित कर ली गईं, तो फिर क्या कारण था कि दशरथ जातक में आई हुई राम संबंधी दस गाथाओं में से केवल दो ही रामायण में सम्मिलित की गईं? अतः अधिक संभव यही है कि वाल्मीकीय में से ही छिटक कर ये श्लोक लोक में आए। और, किसी ग्रंथ का खूब प्रचार हुए बिना ऐसा नहीं हो सकता; इसके लिये भी दो तीन सौ वर्ष का समय चाहिए ही। इस प्रकार भी वाल्मीकि का निर्माणकाल ई० पू० ग्यारहवीं शती तक पहुँचता है।

किंतु इन कारणों से ग्यारहवीं शती में भी इस प्रकार के निर्माण की संभावना बहुत कम रहती है—(१) राम को हुए उस समय कोई सतरह-अठारह सौ वर्ष बीत चुके थे; (२) उनके वंशज ऐक्ष्वाक भी उस समय केवल साधारण राजा रह गए थे, जिनके लिये भी रामायण निर्मित होने की संभावना नहीं थी; और (३) राम उस समय अवतार भी नहीं हुए थे। ऐसी दशा में यही अधिक युक्तिसंगत है कि रामायण की रचना वाल्मीकि ने रामचंद्र के ही युग में की थी। पुराणों, महाभारत तथा स्वयं रामायण की अनुश्रुति भी यही है। ऊपर के विमर्श से इस अनुश्रुति के स्थापित होने में कोई बाधा नहीं रह जाती, अतः उसे अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है।

रामायण में तत्कालीन संस्कृति, सभ्यता और राजनीति एवं राजनीतिक भूगोल संबंधी जो परिस्थिति मिलती है उससे भी यही प्रतिपादित होता है कि वह ई० पू० ग्यारहवीं शती (ब्राह्मण काल) से बहुत पहले की है, जिसे कोई तुल्यकालीन मनुष्य ही गुंफित करने में समर्थ हो सकता है। समय बीतने पर ऐसे ब्योरों में स्वभावतः गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है।

वाल्मीकीय में से इस प्रकार की कुछ उल्लेखनीय बातें हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

१—ऐक्ष्वाकों में राजा का चुनाव होता था।

२—क्षत्रिय ऋषि-कन्याओं से विवाह करते थे।

३—ऋषिगण राजाओं का पूजन (समादर) करते थे।

४—क्षत्रिय पौरोहित्य और कर्मकांड में ब्राह्मणों की भाँति निष्णात होते थे और बिना ब्राह्मण पुरोहित के वे कर्मकांड संपादित कर लेते थे।

५—देव पितृ-कर्म में मांस का व्यवहार अबाध रूप से होता था।

६—स्त्रियाँ हवन, तर्पण, उपस्थान एवं संध्या करती थीं।

७—पुनर्जन्म की भावना न थी। दैव का अर्थ 'देवताओं की इच्छा' था, अदृष्ट वा भाग्य नहीं।

८—अनार्य निषादों का राज्य कोसल जनपद से मिला हुआ था।

९—दंडकारण्य प्रयाग से ही आरंभ होता था और उसमें कहीं कहीं ऋषियों के आश्रम मात्र थे। किष्किंधा और लंका विंध्य में ही थीं।

१०—राक्षसों का धर्म, मंत्र और कर्मकांड भिन्न था। उनके मुर्दे गाड़े जाते थे। वे घोड़े के बदले गधे का व्यवहार करते थे। धनुर्बाण से वे अनभिज्ञ थे, शक्ति (बरछी) उनका मुख्य अस्त्र थी।

११—वानरों की अपनी निजी भाषा थी।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर यह कहने के लिये कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि वाल्मीकि रामायण रामचंद्र की समकालीन रचना नहीं है। फिर भी, रामचंद्र से रामायण के निर्माण की तुल्यकालता के विरुद्ध बहुत बड़ी आपत्ति यह है कि उसकी भाषा अपेक्षाकृत बहुत इधर की है। परंतु इस दृष्टि से रामायण के रचनाकाल का निर्णय करना सर्वथा असंगत है, क्योंकि मूल वाल्मीकि की भाषा तो वर्तमान वाल्मीकि से बहुत भिन्न रही ही होगी। उसका मूल रूप में सुरक्षित रहना असंभव था। रामायण मंत्र नहीं है जिसमें विंदु-विसर्ग का भी भेद पड़ जाय वा वह स्वर वर्ण से मिथ्या प्रयुक्त हो जाय तो लेने के देने पड़ जायँ। इसके विपरीत वह आरंभ ही से एक लोकप्रिय रचना रही है। ऐसे लोकप्रिय साहित्य का अद्यतन बने रहना एक आवश्यक प्रक्रिया है, क्योंकि तभी तो लोक उसे समझता रहेगा। फलतः भाषा की अपेक्षाकृत नूतनता रामायण के रामकालीन होने में बाधक नहीं हो सकती।

चीनी साहित्य में राम का चरित्र

[श्री बुद्धप्रकाश]

चीन और भारत के बीच बहुत प्राचीन काल से बड़ा गहरा संबंध रहा है। चीनी साहित्य के अनुसार ईसा के पश्चात् प्रथम शताब्दी में सम्राट् *मिङ्ति* ने स्वप्न में भगवान बुद्ध के दर्शन किए और उनके आदेश के अनुसार भारत से बौद्ध भिक्षुओं—काश्यप मातंग और चु-फा-लान् (धर्मयश) - को बुलवाकर बौद्ध धर्म और संस्कृति का सूत्रपात किया। इन ऐतिहासिक दंतकथाओं को मिथ्या माना जा सकता है, किंतु यह तो निर्विवाद ही है कि सम्राट् *हो-ति* (८९-१०५ ई०) के समय में सेनापति *पान् छाव्* ने मध्यएशिया में जो युद्ध किए और उनमें उसकी एक भारतीय राजा से (जिसे कनिष्क सिद्ध करने का यत्न किया गया है) जो टक्कर हुई उससे पहली बार चीन और भारत का संपर्क हुआ और घर वापस लौटने पर *पान्-छाव्* ने अपने देशवासियों के सामने भारतीय राजा का जो वर्णन किया उससे चीनी लोगों को भारत के निवासियों से संबंध स्थापित करने की प्रेरणा मिली। यू-ची सम्राटों की सभा में, जिनमें कनिष्क प्रमुख था, एक चीनी राजदूत ने बौद्ध धर्म के शास्त्रों का मौखिक उच्चारण सुना था, और यह तो ऐतिहासिक सत्य है ही कि ई० दूसरी शती में चीन और भारत का संबंध नियमित हो गया।

इस संबंध के स्थापित होते ही बौद्ध धर्म, संस्कृति और साहित्य का प्रचार चीन में बहुत शीघ्रता से हुआ और बहुत से बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। यह स्वाभाविक है कि चीनियों ने उन्हीं ग्रंथों का अनुवाद अपनी भाषा में किया जिनका उनपर काफी प्रभाव पड़ा और अपने साहित्य में उन्हीं पात्रों को स्थान दिया जिनके आदर्श चरित्र ने उनके हृदय पर एक स्थायी छाप छोड़ी। भारतवर्ष में आरंभ ही से श्री राम का चरित्र बहुत लोकप्रिय था और उनके उदात्त आदर्श ने एक विशाल साहित्य को जन्म दिया था। राम का नाम भारत में ही नहीं, सारे आर्य जगत् में प्रसिद्ध था। ऋग्वेद (१०।९३।१४) में हमें यह नाम मिलता है और ईरान के अखामनी वंश के सम्राट् आर्यराम (अरियरम्न) का नाम इसी नाम का अवशेष है। इसलिये इस नाम को जब हम चीनी साहित्य

में पाते हैं, तो हमारी उत्सुकता की सीमा नहीं रहती। हमें यह जानने की उत्कंठा होती है कि राम के चरित्र के किस पक्ष ने चीनियों पर सबसे अधिक प्रभाव डाला।

ई० सन् ४७२ में एक चीनी लेखक *चि-चिआ-ये* ने *चा-पाव्-त्साङ्-चिङ्* नाम का एक ग्रंथ लिखा जिसमें उसने एक भारतीय अवदान-संग्रह का अनुवाद किया। इस संग्रह में १२१ अवदान हैं जिनमें से पहला राम के चरित्र से संबंध रखता है। इस अवदान में एक विशेषता और नवीनता है। इसमें सीता का नामोल्लेख तक नहीं है। वाल्मीकि रामायण और उससे संबंध रखनेवाले संस्कृत साहित्य में तथा बाद के अपभ्रंश, हिंदी और अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्यों में सीता को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यद्यपि पाली जातकों में में भी सीताहरण, राम-रावण-युद्ध और लंकाविजय की चर्चा नहीं है, किंतु उनमें सीता का वर्णन अवश्य है, और वहाँ उन्हें राम की पत्नी न कहकर उनकी बहिन बताया गया है। किंतु *चि-चिआ-ये* ने सीता के व्यक्तित्व को बिलकुल भुला दिया है। इसमें इस अनुवादक का कोई दोष नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसने तो एक भारतीय ग्रंथ का अनुवाद किया जो कनिष्क के समय और ई० पाँचवीं शती के बीच लिखा गया था। इस निष्कर्ष पर हम इस प्रकार पहुँचते हैं कि इस ग्रंथ में जो अवदान संगृहीत हैं उनमें से अधिकतर कनिष्क से संबंध रखते हैं और निश्चित रूप से उसके बाद के हैं, और पाँचवीं शती में इस ग्रंथ का चीनी अनुवाद ही हो गया है; अतः ग्रंथ इन दोनों सीमाओं के बीच का है। लेकिन उस समय भारत में वाल्मीकीय रामायण प्रचलित था और पाली जातक भी, जिनमें राम का चरित्र दिया है और जो कुछ विद्वानों के अनुसार वाल्मीकीय से भी पहले के हैं, विद्यमान थे। तब फिर इस अवदान के लेखक ने सीता के चरित्र पर पर्दा क्यों डाला? यही जान पड़ता है कि राम के चरित्र का जो पक्ष उसे अच्छा लगा उसका सीता से कोई संबंध नहीं था, इसलिये उसे सीता की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऐसी अवस्था में यह जानने की उत्कंठा और भी बढ़ जाती है कि उसपर राम के चरित्र के किस पक्ष का प्रभाव पड़ा। इसके लिये मूल अवदान पर दृष्टि डालनी चाहिए। मूल संस्कृत ग्रंथ तो नष्ट हो चुका है, केवल उसका चीनी अनुवाद वर्तमान है। इस चीनी अनुवाद को भारतीय पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान् श्री सिलवें लेवी ने, जिनके सुपुत्र श्री दानियल लेवी आजकल भारत में फ्रांस के राजदूत हैं,

फ्रांसीसी भाषा में अनूदित किया है।[1] यहाँ उस फ्रांसीसी अनुवाद का हिंदी भाषांतर प्रस्तुत किया जाता है—

प्राचीन काल में, जब मानव जीवन को दस सहस्र वर्ष बीत चुके थे, *श-शे* (दशरथ) नाम का एक राजा हुआ था। वह *यन्-फोउ-थि* (जंबुद्वीप) पर राज करता था। उसकी सबसे पहली रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम *लो-मो* (राम) था। दूसरी से एक पुत्र *लो-मान्* (लक्ष्मण) उत्पन्न हुआ। *लो मो* जो सिंहासन का उत्तराधिकारी था, बहुत शक्तिशाली था और उसमें *नाओ-यन्* (नारायण) और *शान्-लो* की शक्ति थी। उसका शब्द सुनकर और उसका रूप देखकर उसका गहरे से गहरा शत्रु भी उसके सामने सिर नहीं उठा सकता था। अंत में तीसरी रानी से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम *फो-लो-थो* (भरत) था और चौथी रानी से 'शत्रुओं को मारने वाला' (शत्रुघ्न) नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। तीसरी रानी राजा को बहुत प्रिय थी और वह उसका बहुत आदर करता था। उसने उससे ये शब्द कहे—'मेरे पास जितनी भी धन-संपत्ति है उसमें से मैं कोई वस्तु अलग नहीं करता, जो कुछ भी तुम्हारी इच्छा हो उसका पालन तुरंत होगा।' रानी ने उत्तर दिया—'मुझे कोई इच्छा नहीं है। बाद में यदि मैं कोई वरदान चाहूँगी तो आपसे कह दूँगी।' कुछ समय बीतने पर राजा बीमार पड़ गया और उसका जीवन संकट में पड़ गया। तब उसने *लो-मो* को अपना उत्तराधिकारी बनाया जिससे वह उसके बाद सिंहासन ग्रहण करे, सिर पर मंगलसूत्र धारण करे[2], राजमुकुट पहने, उदारहृदय बने और धर्मशास्त्रों का पालन करे, जैसा कि राजाओं का कर्तव्य है। छोटी रानी ने देखा कि राजा बीमार हैं। जब वे कुछ अच्छे हुए तो उसके मन को धीरज हुआ और उसने राजा के सामने अपना यह विचार प्रकट किया—'तुमने मुझे एक वर देने को कहा था, अब मैं उसे माँगती हूँ। मेरी यह इच्छा है कि मेरा पुत्र राजा बने और *लो-मो* को निर्वासित किया जाय।' इन शब्दों को सुनकर राजा ऐसा हो गया जैसे उसका दम घुट रहा हो, उसकी साँस बंद हो गई और (मुँह से) शब्द

१—सिलवें लेवी : ला लेजेंद द राम दाञानावदान शिनोवा, जाक बाको द्वारा संपादित मेमोरियाल् सिलवें लेवी, पृष्ठ २७१।

२—नूए सा शिवल्युर आवेक ल रुबाँ द स्वाइ (अपने बालों को रेशम के फीते से बाँधे)। यहाँ मंगलसूत्र धारण करने से अभिप्राय है।

भी न निकल सका। सत्य का तकाजा था कि वह अपने बड़े पुत्र को राजा बनाने के बाद गद्दी से उतारे, सत्य का तकाजा था कि उसने नियमित रूप से जो वर दिया था उससे विमुख न हो।

राजा *श-शे* अपने वचन के पालन में कभी पीछे नहीं रहा था। राजाओं का यही कर्तव्य है। कर्तव्य में दो बातें हो ही नहीं सकतीं। उसने वचन दिया था, उसको उसे पूरा करना था। इस विचार से उसने *लो-मो* को गद्दी से उतार दिया, उससे अंगरक्षक[3] और राजमुकुट वापस ले लिए। तब छोटे भाई *लो-मान्* (लक्ष्मण) ने अपने बड़े भाई से कहा—'तुम शक्तिशाली हो, तुममें *शान्-लो* के समान-शक्ति है, तुम इस अपमान को क्यों सहते हो, क्यों इसके विरुद्ध चेष्टा नहीं करते ?' बड़े भाई ने छोटे को उत्तर दिया—'अपने पिता के वचन को पूरा न करना सुपुत्र का काम नहीं है। इसके अतिरिक्त, वह रानी मेरी माता के समान ही है, यद्यपि उसने मुझे जन्म नहीं दिया है। मेरे पिता उससे प्रेम करते हैं और उसका आदर करते हैं और वह मेरी माता जैसी ही है। हमारा छोटा भाई *फो-लो-थो* बड़ा आज्ञाकारी है, उसका हृदय बिलकुल सच्चा है। मेरे लिये वह दूसरा मैं ही हूँ। ऐसा काम करने के बदले, जिसे पिता, माता और छोटे भाई के प्रति नहीं करना चाहिए, मैं इस बुराई को स्वीकार करना अधिक अच्छा समझता हूँ।' छोटा भाई ये शब्द सुनकर चुप हो गया।

इसके बाद राजा *श-शे* ने अपने दोनों पुत्रों को निर्वासित कर दिया। उसने उन्हें दूर पहाड़ों के भीतर रहकर पूरे बारह वर्ष व्यतीत करने और इस अवधि के बाद राजधानी में वापस आने का आदेश दिया। *लो-मो* और उसके छोटे भाई ने पिता की इस आज्ञा का पालन किया, उनके हृदय में घृणा का भाव नहीं था। उन्होंने अपने पिता और माता की आज्ञा को शिरोधार्य करके बहुत दूर पहाड़ों के भीतर प्रस्थान किया। किंतु *फो-लो-थो* (भरत) ने दूसरे के सिंहासन को ग्रहण करने के पहले उनसे वापस लौटने और राज्य करने की प्रार्थना की। *फो-लो-थो* (भरत) अपने दोनों भाइयों से बहुत मेल रखता था, वह उनकी आज्ञा मानता और सदा नम्रतापूर्वक उनका आदर करता था। राज्य में लौटने पर, जब राजा अर्थात् उसके पिता का स्वर्गवास हो चुका था, उसे पता चला

३—लुइ रतिरा ल मौतो (उसका चोगा वापस लिया)। यहाँ चोगे के लिये मैंने अंगरक्षक शब्द प्रयुक्त किया है। यह अधिक उचित प्रतीत होता है।

कि उसकी माता की कुनीति से उसके दोनों बड़े भाइयों के अधिकार छीने गए हैं और उन्हें निर्वासित किया गया है। अपनी माता का न्यायविरुद्ध कार्य उसे बहुत बुरा लगा। उसके सामने घुटने टेकने की इच्छा न रखते हुए उसने उससे कहा—'एक माता जो कुछ करती है उससे कौन विमुख हो सकता है? किंतु अब उसने परिवार को नष्ट और समाप्त कर दिया हो तब भी उसे माता समझना, उसकी आज्ञा का पालन करना, पुत्रोचित सौजन्य से उसके आदेश पर चलना, यह सामान्य से बहुत ऊंची बात है।' फिर फो-लो-थो (भरत) सेनापतियों और जनता के साथ पहाड़ों की ओर चल दिया। जनता की भीड़ को पीछे छोड़कर वह अकेला ही आगे बढ़ा। अपने छोटे भाई को आता देखकर *लो-मान्* ने अपने बड़े भाई से कहा—'लो देखो, तुम सदा अपने छोटे भाई *फो-लो-थो* की सत्यता, आज्ञाकारिता और दीनता की प्रशंसा किया करते थे, वही योद्धाओं को लेकर अपने बड़े भाई को द्रोही की तरह दंड देने आ रहा है।' बड़े भाई ने *फो-लो-थो* से कहा—'भाई, तुम सेना लेकर क्यों आए हो?' छोटे भाई ने उत्तर दिया—'इसलिये कि मैं मार्ग की कठिनाइयों से डरता था, डाकुओं के आक्रमण का भय था। मैं अपनी रक्षा के लिये इस सेना को लाया हूँ। मेरे मन में और कोई भाव नहीं है। मेरी इच्छा है कि मेरा भाई राज्य में वापस चले और जिस तरह उचित समझे, वहाँ शासन करे।' बड़े भाई ने कहा—'अपने पिता की आज्ञा के कारण मुझे यहाँ इतनी दूर आना पड़ा। मैं अब वापस कैसे जा सकता हूँ? यदि तुम अपने बड़ों की आज्ञा के अनुसार चलते हो तो भावातिरेक में अपने पुत्रोचित सौजन्य तथा मातापिता के प्रति अपने कर्तव्यों को मत भूलो। यदि हठ करते हो तो जान लो कि तुम्हारे भाई की इच्छाशक्ति भी दृढ़ है।' छोटा भाई समझ गया कि उसके बड़े भाई की दृढ़ता अटल है, तब उसने उसकी एक खड़ाऊँ माँगी। अपनी इच्छा में असफल होकर निराशा का मुँह देखता हुआ वह उस उपहार को, जिसे वह धर्म के अनुसार शासक समझता था, लेकर राज्य में लौट आया। खड़ाऊँ सदा राज्य-सिंहासन पर रखी रहती थी। रातदिन लोग उससे न्याय की प्रार्थना किया करते थे, जैसे वही उसका बड़ा भाई हो, उसमें और उसमें कोई अंतर ही न हो। थोड़े थोड़े दिन बाद वह बराबर पहाड़ों में आदमी भेजता और अपने भाई से घर लौटने की प्रार्थना करता रहा। किंतु जब तक पिता के आदेश के अनुसार बारह वर्ष नहीं बीत गए और वर्षों की संख्या पूरी नहीं हुई, दोनों भाई अपने पिता की आज्ञा पर दृढ़ रहे, उसे भंग नहीं किया। थोड़ा थोड़ा करके जब वर्ष बीते और

समय पूरा हो गया और छोटे भाई ने बड़े के पास बराबर दूत भेजने में कमी नहीं की, उसका उसी प्रकार आदर किया जैसे वह स्वयं वहाँ उपस्थित रहा हो, तो इसका ध्यान करके और छोटे भाई की भावनाओं से प्रभावित होकर वह अविलंब राज्य में लौट गया। जब वह राज्य में पहुँचा तो छोटा भाई नम्रतापूर्वक उसे लेने गया और चुपचाप प्रेम के आँसू बहाता रहा। उसने राज्य अपने बड़े भाई को सौंप दिया। बड़े भाई ने ऐसी ही नम्रता से उससे कहा—'मेरे पिता ने राज्य छोटे भाई को दिया है। यह उचित नहीं है कि मैं उसे ग्रहण करूं।' छोटे भाई ने कहा—'मेरा बड़ा भाई पहली रानी का पुत्र है। वह पिता की इच्छा पर बलि हुआ है और उसने उसे संतोषपूर्वक निबाहा है। मेरा बड़ा भाई सीधा और सच्चा है, बदले में ऐसा ही मुझे होना चाहिए। मैं नम्रतापूर्वक यह स्थान उसे समर्पित करता हूँ।' बड़ा भाई, जो दोषरहित था, राज्य लेने को तैयार हो गया। बड़े भाई और छोटे भाई के सब गुणों का दृष्टांत लोक में फैल गया। जो मार्ग अधिकांशतः उन्होंने खोला था वह एक वरदान था जिसने समस्त जनता को लाभ पहुँचाया। जिस प्रकार उन्होंने पुत्रोचित सौजन्य का पालन किया था, लोग भी उसी आदर्श पर चलने लगे। यद्यपि *फो-लो-थो* (भरत) की माता ने ही सब अनिष्ट किया था, पर अब उसके मन में कोई दुर्जनता नहीं रही। पुत्रोचित सौजन्य के इस कृत्य के फलस्वरूप समय पर हवा चलने और वर्षा होने लगी, पाँचों फसलें अधिकता से उगने और पकने लगीं, जनता व्याधिरहित हो गई और *यन्-फोउ-थि* (जंबुद्वीप) में सब लोग साधारणतः दसगुने अधिक सुखी और समृद्ध हो गए।

चीनी अवदान के इस अनुवाद से पता चलता है कि श्रीराम के बहुमुख चरित्र में लेखक पर जिस पक्ष का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा वह उनका पुत्रोचित सौजन्य और उनकी आज्ञाकारिता है। पिता की आज्ञा के पालन के लिये उन्होंने राज्य छोड़ा और बनवास के घोर दुःख सहे। उनके जीवन का यह पक्ष इतना मार्मिक है कि उसके प्रभाव की कल्पना करना कठिन है। चीनी साहित्यकार *चि-चिआ-ये* के वृत्तांत के अंतिम अंशों में इस प्रभाव की अभिव्यक्ति होती है। राम के चरित्र के समान ही भरत का चरित्र भी उज्ज्वल है। यदि राम अपने पुत्रोचित कर्तव्य के पालन में सुमेरु की भाँति दृढ़ हैं तो भरत भी अपने भ्रातृ-कर्तव्य के पालन में उनसे कम नहीं हैं। यह चीनी साहित्यकार की अभिरुचि का प्रतीक है कि उसने रामायण में से पुत्र-पक्ष और भ्रातृ-पक्ष को ग्रहण कर उन्हें सबसे अधिक महत्त्व दिया। अंततः यह गौरव भारत को ही प्राप्त है कि उसके पुत्रों का गुणगान सुदूर देशों में हुआ।*

* इस लेख में आए हुए चीनी नामों के शुद्ध उच्चारण प्रस्तुत करने के लिये हम तद्भाषाविज्ञ श्री कृष्णकिंकरसिंह (चीना-भवन, शांतिनिकेतन) के आभारी हैं। —संपा०

मैथिल कवि चंदा झा

[श्री बलदेवमिश्र]

उन्नीसवीं शती में पंडित चंदा झा मैथिली भाषा के बहुत बड़े कवि हो गए हैं। उन्होंने एक रामायण लिखा है जिसकी बड़ी प्रसिद्धि है। अपने समय में ये मैथिली भाषा के सबसे बड़े ज्ञाता थे। बंगाल के श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने विद्यापति-पदावली के संपादन के लिये विद्यापति के गीतों के अर्थ समझने में इन्हीं से सहायता ली थी। उन्होंने पदावली की भूमिका में इनकी बड़ी प्रशंसा की है। हिंदी पाठकों के समक्ष इनके सरस काव्यों का परिचय देना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

कवि चंदा झा का जन्म ई० १८३० में रामनवमी के दिन दरभंगा जिले के पिंडारुछ गाँव में हुआ था। इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया जिसके लिये ये काशी भी आए थे। पहले ये नरहन राज्य में और पश्चात् दरभंगा महाराज के यहाँ सभासद् होकर रहे। ये बड़े साधु पुरुष थे और महादेव के बड़े भक्त थे। महादेव की प्रशंसा में इन्होंने अनेक गीतों की रचना की है। स्वर्गीय डा० गंगानाथ झा तथा उनके बड़े भाई प० विंध्यनाथ झा से इनका बड़ा सौहार्द था। उसी प्रेम के वश डा० अमरनाथ झा ने इनके महादेव संबंधी गीतों का संग्रह 'महेशबानी संग्रह' के नाम से इंडियन प्रेस से प्रकाशित करा दिया है। इनके रचे हुए और भी बहुत से भक्तिविषयक पद हैं। इन्होंने विद्यापति ठाकुर की 'पुरुष-परीक्षा' नाम की पुस्तक मैथिली भाषा में अनूदित करके छपाई थी। दरभंगाधीश महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह बहादुर के प्रीत्यर्थ इन्होंने मैथिली भाषा में रामायण की रचना की। ये तत्त्वान्वेषी इतिहासज्ञ भी थे और इन्होंने मिथिला देश का इतिहास भी लिखा था, परंतु दुर्भाग्य से वह प्रकाशित नहीं हुआ।

कवि चंदा झा भक्त तो थे ही, ये बड़ी सरल और निश्चिंत प्रकृति के व्यक्ति थे। पहले जब ये पिंडारुछ गाँव में निवास करते थे तो उस गाँव के एक धनी-मानी व्यक्ति ने इनके साथ दुर्व्यवहार किया। इस कारण ये उस गाँव को छोड़कर दूसरे गाँव में आ बसे। इस ग्राम-परित्याग के विषय में उनका एक गीत प्रसिद्ध है—

शिव शिव मोहिं तोहर पद आस।
भल मेल भल मेल त्यागल बास,
छुटि गेल मोर मन दुरजन त्रास।
भल भल लोकक बैसब पास,
सपनहुँ सुनब न खल उपहास।
मन न रहत मोर कतहुँ उदास,
शिव शिव रहब जखन धरि श्वास।
सुखहि में बीतत बासर मास,
चंद्र सुयश नहिं कतहुँ हरास।

जनश्रुति है कि उनका एकमात्र पुत्र पढ़-लिखकर योग्य होकर असमय में मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके शव को लोग श्मशान ले गए और कविजी अपने घर पर बैठे महेशवानी गीत गाते रहे।

दरभंगा के महाराज रामेश्वरसिंह बहादुर की इनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। ई० १९०९ में काशीवास करने के लिये जब ये काशी आने लगे तो महाराज ने स्टेशन पर आकर इनका दर्शन किया। संयोग, इनके लिये यही अंतिम दर्शन था। उसी वर्ष काशी में इनकी मृत्यु हुई।

लेखक की दृष्टि में कवि चंदा झा मिथिला देश में अपर विद्यापति हुए। दोनों कवियों में अनेक विषयों में समानता है। दोनों संस्कृत के बड़े पंडित थे, दोनों मिथिला देश के राजा के आश्रित रहे। दोनों दरभंगा जिले के निवासी, उच्च ब्राह्मणकुल संभूत तथा दोनों ही शैव थे। दोनों ने ही मैथिली भाषा में कविता की; हाँ एक ने राधाकृष्ण को अपना विषय चुना, दूसरे ने सीताराम को। केवल एक विषय में दोनों कवियों में महान् अंतर है। विद्यापति ने देशभाषा में कविता लिखी, इसके कारण उस समय के मैथिल पंडितों ने उनकी बड़ी निंदा की। उन्हें नर्तक, ग्रामयाचक और भागवत कहा। नर्तक इसलिये कि उन्होंने गीत रचे; ग्रामयाचक इसलिये कि राजा शिवसिंह ने प्रसन्न होकर उन्हें बिशपी ग्राम दिया; भागवत इसलिये कि वे दरबार में जाकर भागवत का प्रवचन करते थे। इतने बड़े पंडित विद्यापति को उन लोगों ने महामहोपाध्याय की पदवी नहीं दी। इस पंडित-निंदा का यह कुफल हुआ कि चिरकाल तक मैथिली भाषा की प्रगति रुकी रही। किंतु चंदा झा बड़े भाग्यवान् हुए। इनके रामायण का तत्कालीन पंडितों ने बड़ा आदर किया, वर्तमान समय में तो संस्कृत के बड़े बड़े पंडित मैथिली

भाषा में कविता कर रहे हैं। यह समय-धर्म है। संप्रति देशभाषा का पूर्ण समादर है।

कवि चंदा झा की रचनाएँ अत्यंत सरस एवं मधुर हैं। कभी कभी ये संस्कृत में भी रचना करते थे। नहरनी के संबंध मे इनकी एक प्रसिद्ध उक्ति देखिए—

अनन्तचरणोपाङ्गी तारिणी मलहारिणी।
पुनर्भवच्छेदकरी गङ्गेव नखरञ्जिनी॥

यहाँ नखरंजिनी (नहरनी) की गंगा के साथ तुलना की गई है। कैसा सुंदर श्लेष है!

इनके गीतों का बहुत प्रचार है। प्रचलित गीतों में से एक की चर्चा यहाँ की जाती है—

साजन देखल सपन, सुतलि छलहुँ हम भवन अपन।
तखन कतय गेल विरह तपन, सुनल जखन हम हरि क लपन।
कत कहु है सखि गुण क लपन, एखनहु धरि अछि हृदय कपन।
चंद भन निंद गेलि बड़ अनपन, लगलन्हि पतिया में सशिख वपन।

इस गीत का अभिप्राय यह है विरहिणी का स्वप्न में अपने पति से मिलन हुआ और नींद खुल जाने पर प्रिय का बिछोह हुआ। विरहिणी कहती है कि इस वियोग से उसका मरण हो जायगा। इस वियोग का कारण नींद का टूटना है, अतएव यह बध-दोष नींद को लगेगा। किसी को मारने से प्रायश्चित्त चार चरण का लगता है, जिसमें शिखासहित केश कटाना पड़ता है, इसलिये नींद को भी मारणजन्य सशिखवपन कराना होगा।

इनकी काव्यगत विशेषताएँ इनके रामायण में विशेष रूप से देखने को मिलती हैं। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं। वाल्मीकि रामायण में अहल्या-प्रकरण में कवि अहल्या को ही दोषी ठहराते हैं—

अथाब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो।
आत्मानं मां च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात्॥

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में

आश्रम देखि एक मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही बिसेषी॥

केवल इतना ही कहकर घटना पर आवरण डाल दिया, अपने भाव को प्रकाशित नहीं होने दिया। उन्होंने अपनी रचना में यह विशेषता अवश्य दिखलाई कि अहल्या ने मुनि के शाप को भी अच्छे भाव में स्वीकृत किया, क्योंकि उसी के कारण उसे राम के दर्शन हुए—

मुनि साप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मै माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना॥

अब इस संबंध में कवि चंदा झा की विशेषता देखिए। अहल्या राम से कहती हैं—

हमर गति अपने सौं के आन।
करुणागार दीनप्रतिपालक रामचंद्र भगवान॥
पिता बिधाता बुरि नहिं तकलनि पति मति भेलहुँ पखान।
सुरपति कुमति विदित भेल कतय न हम अबला की ज्ञान॥
जंतु मात्र से बर्जित आश्रम नहि भोजन जलपान।
बरष हजार बहुत एत गत भेल रामचरण मे ध्यान॥
सगुन ब्रह्म अपने कौं देखल निर्गुन मन अनुमान।
चंद्र सुकवि भन लाभ एहन सन त्रिभुवन सुनल न कान॥

यहाँ 'सुरपति कुमति विदित भेल कतय न हम अबला की ज्ञान' इस पद के द्वारा कवि ने सारा दोष सुरपति इंद्र पर ही डाला है और इस प्रकार अहल्या की रक्षा की है।

एक और उदाहरण लीजिए। रामकृत सीता परित्याग का प्रकरण है। किसी स्त्री के परित्याग में दो कारण हो सकते हैं—एक स्त्री का दोष और दूसरा पतिकुल का दोष। स्त्री का दोष रहने पर उसके पितृकुल के लोग उसे प्रश्रय नहीं देते, किंतु यदि उन्हें यह विदित हो कि दोष पतिकुल के लोगों का है तो वे प्रश्रय देते हैं। इसका कारण यह है कि वे कन्या के, अयोग्य पति को समर्पित होने के विषय में अपने को दोषी समझते हैं। इस विषय में दो दृष्टांत हैं। एक तो, सीता का परित्याग होने पर पृथ्वी उन्हें अपने अंक में नहीं लेतीं। पृथ्वी को यह निश्चय नहीं है कि दोष राम का है अथवा सीता का। कवि कालिदास पृथ्वी के मुख से कहलाते हैं—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत्॥

दूसरा दृष्टांत शकुंतला का है। कण्व के शिष्य शकुंतला को लेकर राजा दुष्यंत के यहाँ जाते हैं। संशय में पड़कर राजा शकुंतला को ग्रहण नहीं करता। शिष्यों के चले जाने पर जब शकुंतला उनका अनुधावन करना चाहती है तो वे 'आः पुरोभागे स्वातंत्र्यमवलम्बसे' कहकर उसे डाँटते हैं। ऐसी स्थिति में चंदा झा का कृतित्व देखिए। वे लक्ष्मण द्वारा सीता का त्याग होने पर सीता से इस प्रकार कहलाते हैं—

> करुणागार उदार प्राणपति वन देल दोष लगाय रे।
> देवर, दोष विधि क हम की कहु जनि घर धर्म न न्याय रे॥
> हमरहि हेत दसानन मारल कपिगण संग लगाय रे।
> तखन पतिव्रत देखल हमर सम अनल में गेलहुँ समाय रे।
> नैहर जौ मिथिला चलि जाएब कहत बाप को माय रे।
> पुरुष परसमणि कर हम सौंपल अयशी की नाम हँसाय रे॥
> सिरिस सुमन बरु होब अशनि सम तेहन कतहुँ भय जाय रे।
> से बरु होय होथि नहिं अकरुण अहँ कौं बरका भाय रे॥
> कि कहब कहब योगि नहिं रहलहुँ मेलहुँ सबहिं कैं भार रे।
> कतहुँ रहब जानकि जन कहने श्री रघुनंदन दार रे।

यहाँ सीता जी इस त्यागरूप दोष को विधाता के ऊपर आरोपित करती हैं, राम को तो वे करुणागार उदार प्राणपति कहती हैं। वे कहती हैं कि इस अवस्था में यदि मैं अपने पितृकुल चली जाऊँ तो वे लोग कहेंगे कि स्पर्शमणि सदृश रामचंद्र जी के हाथों में इसे सौंपा, तो भी दुर्यश लेकर यह यहाँ चली आई! तात्पर्य यह कि वे पितृकुल में जाना नहीं चाहतीं। इस उक्ति के द्वारा कवि ने सीता की शालीनता की रक्षा की है, पृथ्वी माता से तिरस्कृत होने का अवसर नहीं आने दिया।

दूसरी बात यह है कि कवि कालिदास ने—

> वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
> मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य तत् किं सदृशं कुलस्य॥

कहकर सीता के मुख से राम के कुल पर दोष लगाया है। यहाँ चंदा झा की उक्ति है कि शिरीष का पुष्प वज्र के सदृश हो सकता है, किंतु रामचंद्र जी अकरुण नहीं हो सकते। वे इस कांड का दोष विधाता को ही देते हैं जिसके घर में न धर्म है न न्याय—'जनि घर धर्म न न्याय रे'। यहाँ भी कवि ने सीता की

शालीनता की रक्षा की है। वाल्मीकि जी के यह शपथ करने पर कि सीता निर्दोष हैं, और सीता के यह शपथ करने पर कि 'मैंने रामचंद्र जी से भिन्न किसी की चिंतना नहीं की, मेरे दोनों पुत्र लव और कुश राम जी के ही सदृश हैं—उन्हीं के पुत्र हैं. इसलिये दुष्ट जनों के परिहासरूप अंधकार से दूर करने के लिये पृथ्वी माता मुझे अपने हृदय में स्थान दें', पृथ्वी सीता को स्थान दे देती है—

फणिपति फण पर सिंहासन वर तेहि ऊपर भू देवि विराज।
धरणी विवर उपर जन देखल बड़ अद्भुत मन् मानल काज ।।
पुत्रि पुत्रि कहि कहि सीता कै श्रोलेल अंग अपन आरोपि।
गेलि पताल सहित फणिपति सौं विवर मृत्तिका सौं दय थोपि।

इसके अनंतर रामचंद्र जी शोक प्रकट करते हैं—

पामर संग बसि बास हँसि हँसि हम कयल उचित नहि कर्म रे।
वैदेही सनि वनिता त्यागल नहि सुनि गुनल अधर्म रे।।
बड़ अपराध कयल हम हुनकर नहि हो महि सों माँगि रे।
वैदेही क वियोग जनम भरि रहल हृदय में लागि रे।।
हा कत बदन तेहन हम देखब कतय, हुनक सन आँखि रे।
कतय सुनब श्रो मधुर वचन हम धिक धिक जीवन राखि रे।।
कत गोह क्षमा क्षमातनया कों धयल मनहुँ नहि कोप रे।
आव आव सद्भाव चित्त में भेल मनोरथ लोप रे।।

इस प्रकार चंदा झा की बहुत सी सुंदर कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं। काशी विश्वविद्यालय में जब मैथिल भाषा को भी स्थान देने का प्रस्ताव उपस्थित हुआ तो तत्कालीन कुलपति महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने उनका निम्नलिखित पद पढ़ा—

सकल कपट हम जानल मन में।
कोहर्ता अहँ कैं रघुनंदन नहि जनइत छल छथि हा सपन में।।
मेल मनोरथ लाभ अहाँ कों भरत शिखाय पठाओल बन में।
भरत अहाँ क अधीनि होयब नहि बरु हम प्राण त्यागि देब बन में।।
हा गुणनिधि विधि बहु दुख देलहुँ मृतक मारि यशलाभ कि जन में।
झरि झरि पात खसय तरु लति सें सकरुण सीता कोप वदन में।।
जाय मिलब हम सौदामिनि सनि रामचंद्र नव सुंदर घन में।
जनक जनक मिथिला मांह नैहर ज्ञानभूमि सम लोक सुजन में।।

और 'झरि झरि पात खसय तरु लति में, सकरुण सीता कोप हृदन में' इस पंक्ति के सौंदर्य पर बहुत मुग्ध हुए। ऐसे ही कुछ और सुंदर पद उद्धृत किए जाते हैं—

मिथिला वर्णन

की दिव्य भूमि मिथिला हम आबि गेलौं।
देखैत मात्र मन लक्ष्मण तृप्त भेलौं॥
की दिव्य फूल फल वृक्ष अनंत धान।
पक्षी विलक्षण करै अलि रम्य गान॥

संपूर्ण सतड़ाग की सुधा समान वारि सौं।
विचित्र पद्मिनी बनी विहग वारिचारि सौं॥
द्विरेफ गुंजि गुंजि कै महामदाय घूमि कै।
सरोजिनी क अंग सुख बार बार चूमि कै॥

शालि गोप गीति कौ सुप्रीति रीति सूनि सूनि।
श्वेत शस्य खायि तैं कुरंग आँखि मूनि मूनि॥
सत्य तीरहूति यज्ञभूमि पुण्य देनिहारि।
शाख कें बजैत वेस कीर बैसि डारि डारि॥

नदीमातृक क्षेत्र सुंदर शस्य सौं संपन्न।
समय सिर पर होय वर्षा बहुत संचित अन्न।
दयायुत नर सकल सुंदर स्वच्छ सभ व्यवहार।
सकल विद्या उदधि मिथिला विदित भरि संसार॥

गंगा बहथि जनिक दक्षिणदिशि पूर्व कौशिकी धारा।
पश्चिम बहथि गंडकी उत्तर हिमवद्वल विस्तारा॥
कमला त्रियुगा अमृता धेमुड़ा बागवती कृतसारा।
मध्य बहथि लक्ष्मणा प्रभृति से मिथिला विद्यागारा॥

कैकेयी के प्रति दशरथ—

निर्दय चित्त हलाहल घोरि कहू हम की बरु आनि पिआऊ।
श्याम भुजंगम सौं अंग अंग मे केकयनंदिनि आनि डसाऊ॥
कंठ मे बाँधि शिला बरु गोहि समुद्र क मध्य में जाइ डुबाऊ।
दुस्सह राम वियोग कथा हमरा जनु कामिनि कान सुनाऊ॥

कैकेयी के प्रति भरत—

मुँह नहिं देखब तोर, असभाष्य पतिघातिनी।
विषम हलाहल घोरि, बरु मरि जाइ पिआइ दे॥

तोहर पुत्र कहाय, बड़ पापी हम विश्व में।
मरबे अग्नि समाय, की करवाल कराल सौं॥

देल स्वामि सिर डाक, दुष्ट मूर्ति के तोर सनि।
पड़बह कुंभीपाक, सकल लोक सुखनाशिनी।

बड़ निरदय विधि जानल रे ककरो नहि दोष।
राज न करत भरत एत रे केकयि संतोष॥

बुझि पड़ राजभवन बन रे, के रह एहि ठाम।
नृपति क की गति हो एत रे बिन लक्ष्मण राम॥

तिनु जन बन बन सचर रे सहि भूख पिआस।
की हाइन की कै देल रे विधि आस निरास॥

हा धिक् हा धिक् जीवन रे जग भरि उपहास।
नीति तंत्र लिख ककरो रे नहि करि बिसवास॥

बनगमन

प्रिये हम जाइत छी बनवास।
सत्यप्रतिज्ञ पिता कहलनि अछि केकयि कयल प्रवास॥
कौशल्या सनि सासु सदन मैं राखब नियत निवास।
तनि कर सेवा उचित करक थिक धैर्यहि विपति क नास॥
ई संसार असार सर्वदा माया सकल बिलास।
सुख दुख मन में सम कै मानब मन जनु करिय उदास॥
कंद मूल संयोगहिं मेटत लागत भूख पिआस।
रामचंद्र कह कानन अति दुख राक्षस लोक क त्रास॥

वचन सुनि सिय मोर थर थर काँप।
हम नहिं भवन रहब सुनु प्रियतम देखब की संताप॥
सर्वसहा जननी धरणी छथि जनक नृपति छिका बाप।
शमता सहन तेहन अछि तनिकौं सम मखिमाला साप॥

त्रिभुवन बली प्रभुक सन के अछि तोड़ल शंकर चाप।
ई गोइ आज्ञा हम नहिं मानव धर्म होएत की पाप॥
चंद्र चंद्रिका घन बिनु दामिनि रहव न पृथक मिलाप।
एहि विधि जनकनंदिनी कयलनि कोटि विलाप कलाप॥

वचन प्रिय ई गोइ मानल जाय।
हम किंकरी चलव कानन सँग अपने रहब सहाय॥
नैहर मध्य सकल फल कहलनि वृद्ध ज्योतिषी आबि।
कानन पति सँग जानकि जाएब भाल लिखल अछि भावि॥
बहुत रमायन कथा सुनल अछि शंकर वचन प्रमाण।
कतहुँ न लिखल त्यागि सीतागृह कानन देव प्रयाण॥
जो अन्यथा प्राण परित्यागब अपने क आगाँ आज।
चलु चलु विपिन संग वैदेही हँसि कहलनि रघुराज॥

सीताविलाप

हा रघुनाथ अनाथ जकाँ दशकंठपुरी हम आइलि छी।
सिंह क त्रास महावन में हरिणी क समान डेराइलि छी॥
चंद्र चकोर अहैं क सदा हम शोकसमुद्र समाइलि छी।
देवर दोष कहू हम की अपने अपराध सौं काइलि छी॥

बास सदा मणिमंदिर में तहँ खाट मनोहर सन्मणि पावा।
गेलि विलास कला सकला उत धान धरी मुँह होइछ लावा॥
कोटि बिलाप करै वनिता कहि मेलहुँ आज उपाय अभावा।
की लिखि देल ललाटक पट्ट में बूझि न से लुइवा विधि बावा॥

लंकादहन

अरे बाबा दावानल सदृश लंका जरइए।
अधर्मी लंकेशे तनिक सब पापे करइए॥
पड़ा रे रे बाबू अब कछु न काबू लगइए।
बिना पानी लंका नृपति पटरानी मरइए॥

लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध

लक्ष्मण कहल ललकि मेघनाद तोर थोर अछि आयु को समर में समट्टवे।
दशमुख भाल बब गोइ अछि गाल तोर थोर काल मध्य महाकाल गाल अट्टवे॥

हट्टवै न युद्ध सों विरुद्ध मै अखट्टवै जों चट्टवै महासुरा कतेक गप्प छट्टवै।
ठट्टवै कुठाट तों समरभूमि कट्टवै तो बाण औ कृपाण सौं कौंकड़ि जकों फट्टवै॥

जब जयकार धुनि अमर उचार कर सुनि पड़ कान हनुमान हर्ष हांक रे।
ध्वज फहराय लहराय कैं शिखर चढ़ि यंत्र मैं लगाय दृष्टि दूर हो सौं ताक रे॥
आज मेघनाद क समाद न सुनल सुभ जेह सूर्पनखा क काटल कान नाक रे।
सेह रामभाय हाय कैलक अन्याय जनु अनुमान होइछ देलक सिर डाक रे॥

शंकर-भक्ति ('महेशवानी' से)

ई संसार विचार से बाहर नेह सबहि सौं तोड़ रे।
शिवपद कमल हमर मन भमरा प्रीति अखंडित जोड़ रे॥
नहिं तोर रंग रभस संग जाएत नहिं हाथी रथ घोड़ रे।
दान भोग सों रहित अहित वसु व्यर्थ लाख करोड़ रे॥
काम लोभ औ द्रोह क्रोध जे अबहूँ निरदय छोड़ रे।
मोह निंद सौं जागु अभागल जग मध जीवन थोड़ रे॥
जे जे वस्तु विरंचि बनाओल सभ कै लागह मोड़ रे।
कह कवि चंद्र कदापि न छोड़ह गिरिजावल्लभ गोड़ रे॥

नेमिदूत का काव्यत्व

[श्री फतहसिंह]

नेमिदूत की 'वस्तु' जैनियों के बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के जीवन से ली गई है। द्वारका के यदुवंशी राजा समुद्रविजय श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भाई थे। इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र श्री नेमिनाथ जी बचपन से ही विषयपराङ्मुख थे। जब श्रीकृष्ण ने इनका विवाह राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती से करना निश्चित कर लिया, तो इन्होंने उनके आदेश को न टाला और बरात में जाना स्वीकार कर लिया। परंतु जब बरात पहुँची और श्री नेमिनाथ जी ने देखा कि एक बाड़े के भीतर बहुत से निरीह पशु बरातियों के भोजनार्थ एकत्र किए गए हैं, तो उनका करुणार्द्र हृदय द्रवित हो गया और वे रक्त-रंजित भोगों को सदा के लिये छोड़कर गिरनार पर्वत पर योगाभ्यास और तपश्चर्या में लग गए। इस पवित्र प्रयत्न से उन्हें कोई न डिगा सका—न बंधु-बांधवों का मोह, न त्रैलोक्यसुंदरी राजीमती का रूप और न पिता का आदेश; क्योंकि निरीह प्राणियों की वधकालीन कातर वाणी की कल्पना मात्र से जो करुणा उनके हृदय में उमड़ी उसके सामने ये सब बंधन तुच्छ थे।

श्री नेमिनाथ के परित्याग करने पर भी राजीमती भला उन्हें कब छोड़ने-वाली थी, वह तो उनको अपने मनमंदिर में स्थापित कर चुकी थी! अतः उस विरह-विधुरा ने अपने देव को पुनः प्राप्त करने के कई प्रयत्न किए। वृद्ध ब्राह्मण को उनका कुशल-समाचार लेने श्री नेमि की तपोभूमि को भेजा (१०७) और फिर पिता की आज्ञा लेकर स्वयं वहाँ एक सखी के साथ पहुँचकर अनुनय-विनय करती हुई अपने विरह-दग्ध हृदय की भावनाओं को एक प्रलाप रूप में व्यक्त करने लगी (२-८०)। उसके इस प्रयत्न को असफल देखकर सखी ने राजीमती के पति-प्रेम, विरह-व्यथा, स्वप्न-प्रलाप आदि का वर्णन करते हुए (८८-१२३) श्री नेमि से कहा—

राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।

'जैसे वर्षा ऋतु में नव घन से चपला का वियोग नहीं होता, उसी प्रकार राजीमती से तुम्हारा अब क्षणभर के लिये भी पुनः वियोग न हो।'

सखी-सहित राजीमती के इन प्रयत्नों का वर्णन ही प्रस्तुत काव्य का विषय है।

नामकरण

इस काव्य के नाम को देखकर ऐसा लगता है कि इसमें श्री नेमि ने दूत का काम किया होगा अथवा उन्होंने कोई दूत बनाया होगा, परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। श्री प्रेमी जी लिखते हैं—"यह मेघदूत के ढंग का काव्य है और मेघदूत के ही चरण लेकर इसकी रचना की गई है, शायद इसीलिये इसे नेमिदूत नाम मिल गया है; न इसमें नेमिनाथ दूत बनाए गए हैं और न उनके लिये कोई दूसरा दूत बनाया गया है।" यद्यपि यह बात ठीक है, फिर भी यह विचारणीय है कि 'मेघदूत' में दूतकर्म मेघ द्वारा संपादित हुआ है और लगभग वही अथवा वैसा ही कर्म यहाँ राजीमती तथा उसकी सखी द्वारा कराया गया है। परंतु इन दोनों के कथनों में यदि दौत्य देखा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि यह सब राजीमती के ही लिये है और इस हेतु, प्रेमी जी के शब्दों में इस काव्य का 'राजीमती-विप्रलंभ' या 'राजमती विलाप' अथवा ऐसा ही और कोई नाम अन्वर्थक होता, परंतु अंतिम श्लोकों से इसमें नेमिनाथ को प्रधानता प्राप्त हो गई है।

मेरी समझ में नेमिनाथ की इस प्रधानता में काव्य के नामकरण का रहस्य छिपा है। उन्होंने उस पर्वत पर स्वयं 'केवल-ज्ञान' प्राप्त किया और राजीमती (या राजमती) से सांसारिक भोगों को छुड़वाकर उसे शिवपुरी में 'अभिमत सुख शाश्वत आनंद' का भोग कराया—

> श्रीमान् योगादचलशिखरे केवलज्ञानमस्मिन्,
> नेमिर्देवोरगनरगणैः स्तूयमानोऽधिगम्य।
> तामानन्दं शिवपुरि परित्यज्य संसारभाजा,
> भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत्॥ (नेमि० १२५)

इससे स्पष्ट है कि राजमती और उसकी सखी के कथनों का परिणाम यह हुआ कि श्री नेमि ने राजमती को अपने पथ—आनंदोन्मुख निवृत्ति-मार्ग—का पथिक बनाया। और राजमती आई भी किसलिये थी? सचमुच उसे दैहिक सुख की चाह न थी। यदि ऐसा होता तो वह उस वैभव को छोड़कर अपने शरीर

को दुःखसागर में न डुबाती, जैसा कि उसकी सखी के वचनों से प्रकट है। वह जानती है कि जन्म-जन्मांतर के कर्म किस प्रकार बंधन में डालते हैं, अतः वह चाहती है कि उसे श्री नेमि के संयोग से 'चिर सुख' शाश्वत आनंद मिले—

> दुःखं येनानवधि बुभुजे त्वद्वियोगादिदानीं,
> संयोगात्तेऽनुभवतु सुखं तद्वपुर्मे चिराय।
> यस्माज्जन्मान्तरविरचितैः कर्मभिः प्राणभाजा,
> नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ११७ ॥

अतः स्पष्ट है कि उक्त दौत्य का जो परिणाम था, वही उद्देश्य भी था। राजमती के कथन में सांसारिक सुखों की ओर श्री नेमि को ले जाने का जो प्रयत्न है वह केवल विरहिणी का प्रलाप है; वास्तविक उद्देश्य तो सचेत सखी ही कह सकती है।

इस विवेचन को ध्यान में रखकर, क्या यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त दौत्य कर्म में श्री नेमि के ही उद्देश्य की पूर्ति थी और उन्होंने राजमती को पत्नी रूप में ग्रहण न करने पर भी आनंद-पथ की सगिनी के रूप में ग्रहण करना निश्चित कर लिया था, जिसके लिये ही 'अदृष्ट शक्तियाँ' राजमती को तैयार करके लाई थीं—नेमिनाथ के दूतों ने इस प्रकार अदृश्य रूप में उनका संदेश राजमती तक पहुँचाया था? सचमुच यह विचित्र दूतकर्म था, पर था अवश्य। अतः श्रीप्रेमी जी का यह कथन ठीक है कि इसका 'नेमिचरित' नाम बहुत सोच-समझ कर रखा गया है।

नेमिदूत और मेघदूत

जैसा कि नेमिदूत के अंतिम पद से प्रकट है, नेमिदूत की रचना समस्यापूर्ति के ढंग पर हुई, जिसमें मेघदूत के प्रत्येक पद के अंतिम चरण को एक समस्या माना गया है—

> सद्भूतार्थप्रवरकविना कालिदासेन काव्या-
> दन्त्यं पादं सुपदरचितान् मेघदूताद्गृहीत्वा।
> श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,
> चक्रे काव्यं बुधजनमनःप्रीतये विक्रमाख्यः ॥१२६॥

इस प्रकार नेमिदूत में मेघदूत के १२५ पदों का उपयोग किया गया है, परंतु मेघदूत की जो जो पद संख्या मिली है वह इस प्रकार है—

जिनदास	(आठवीं या नवीं शताब्दी)	१२० पद
वल्लभ	(बारहवीं ")	१११ "
स्थिरदेव	(बारहवीं ")	११२ "
दक्षिणावर्तनाथ	(तेरहवीं ")	११० "
मल्लिनाथ	(पंद्रहवीं ")	१२१ "

इसमें से मल्लिनाथी संस्करण में पदों की संख्या सबसे अधिक (१२१) है, परंतु इनके आगे अंत में पाँच पद और पाए जाते हैं जिनको प्रक्षिप्त समझा जाता है और जिनपर मल्लिनाथ की टीका नहीं मिलती। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इन्हीं अंतिम पाँचों में वे दो पद भी हैं जिनके चरणों को लेकर नेमिदूत के एक सौ तेईसवें और एक सौ पचीसवें पदों की रचना हुई है और नेमिदूत को नेमिदूतत्व प्राप्त हुआ है। वास्तव में इन दोनों को प्रक्षिप्त मान लेने पर काव्य अधूरा रह जाता है, जैसा कि इन दोनों के अंतिम चरणों से प्रकट है।[1] इन्हीं दो में वियोग संयोग में और दुःख सुख में परिवर्तित होकर 'अभिमत फल' की प्राप्ति कराता है। इनके बिना विरह-व्यथा शांत नहीं होती और काव्य दुःखांत ही रह जाता है, जो चाहे वर्तमान समालोचकों को रुचिकर भले ही हो, परंतु भारतीय परंपरा के विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि अन्यत्र प्रतिपादित किया जा चुका है[2], भारतीय प्रबंध काव्यों में लौकिक और पारलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक का समन्वय कराने की प्रथा चली आ रही है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने मेघदूत पर लिखते हुए लिखा है—"हममें से प्रत्येक निर्जन गिरिशृंग पर अकेला खड़ा होकर उत्तर की ओर देख रहा है। बीच में आकाश, मेघ और सुंदर पृथ्वी के सुख-सौंदर्य, भोग-ऐश्वर्य की चित्रलेखा के स्वरूप रेवा, शिप्रा, अवंती, उज्जयिनी वर्तमान हैं। ये सब मन में स्मृति जगा देते हैं, पर पास पहुँचने नहीं देते; आकांक्षा का उद्रेक करते हैं, पर उनकी निवृत्ति नहीं करते। दो मनुष्यों के बीच में इतना अंतर?

१—इन दोनों के अंतिम चरण ये हैं—

(१) केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु।

(२) भोगानिष्टानभिमत सुखं भोजयामास शश्वत्।

२—देखिए लेखक कृत कामायनी-सौंदर्य।

"किंतु मन में यह बात उठती है कि किसी समय हम लोग एक ही मानस-लोक में थे, पर अब वहाँ से निर्वासित हो गए हैं। इसी से एक कवि ने गाया है—

हृदय-पटल से बरबस बाहर तुम्हें किया तब था किसने।

केवल यही नहीं, वैदिक परंपरा के अनुसार अनेक पर्व (संयोजक अंग) होने से पिंडांड ब्रह्मांड पर्ववान् या पर्वत कहलाता है, रमणीय (भोग्य) होने से इसे 'राम पर्वत' कह सकते हैं। यहीं 'अष्टचक्रा, नवद्वारा देवपुरी अयोध्या' में यक्ष (जीव) मानो निर्वासित हुआ सा रहता है। है तो वह अकेला ही, परंतु उसमें पंच कोश, तीन पुर, दश इंद्रियस्थान आदि अनेक आश्रम (आश्रय-स्थान) हैं जिनमें वह निवास करता है—'स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं (चक्रे) रामगिर्याश्रमेषु।' यों तो वह भोगों में फँसा हुआ अपनी दूरस्थ प्रिया को भूला रहता है, परंतु ग्रीष्म (शम, दम, संयम आदि तपस्या) में तपने के पश्चात् जब आषाढ़ (सदाचार) के प्रथम दिवस (प्रमुख दीप्ति) पर मेघ (मन) आश्लिष्टसानु (उन्नत) होता है तब 'प्रिया' की विशेष स्मृति आती है और उसकी ओर मेघ (मन) दूत जाता है। इसके मार्ग में 'अन्नरसमय' से लेकर 'मनोमय' जगत् तक के अनेक भोग पड़ते हैं, इन्हीं का वर्णन 'पूर्व मेघ' में नदियों, नगरों आदि के प्रतीकों द्वारा किया गया है। 'मनोमय' जगत् पार करके 'विज्ञानमय' जगत् आता है। यही 'उत्तर मेघ' की अमरावती है, जहाँ योगी को 'सोऽहं' की अनुभूति होती है—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।

इस रूपक की वास्तविक पूर्ति तभी होती है जब यक्ष अपनी प्रिया से मिल जाता है, जब सोऽहं की अनुभूति प्राप्त हो जाती है। इसलिये अंतिम दो पदों में दोनों का मिलन दिखा दिया गया है। संभवतः दो पदों में कथा के एकदम शीघ्रता से समाप्त होने तथा इस प्रकार सहसा मिलन होने के लिये आलोचक के तैयार न होने से वह उसे प्रक्षिप्त मानता है। ऐसे आलोचकों को भारतीय साहित्य की विशेषता, विशेषतः रवींद्र बाबू के ये शब्द याद रखने चाहिएँ—"महाभारत के विषय में यही बात है। स्वर्गारोहण पर्व में ही कुरुक्षेत्र के युद्ध को स्वर्गलाभ हो गया। कथाप्रिय व्यक्तियों को जहाँ कथा-समाप्ति रुचिकर होती, वहाँ महाभारतकार नहीं रुके। इतनी बड़ी कहानी को धूल के बने घर की भाँति वे एक क्षण में छिन्न-भिन्न कर आगे बढ़ गए। जो संसार से विरक्त हैं और कथा-कहानियों को उदासीन भाव से देखते हैं, उन्होंने ही इसके भीतर से सत्य का भी अनुसंधान किया, वे क्षुब्ध नहीं हुए।" ठीक यही बात मेघदूत के लिये कही जा सकती है।

यही कारण है कि जैन मनीषियों और महात्माओं ने मेघदूत के लेखक कालिदास को 'सद्भूतार्थप्रवरकवि' माना है। उन्होंने उनके मेघदूत के अनुकरण पर जैन मेघदूत, नेमिदूत, शीलदूत, पार्श्वाभ्युदय आदि ग्रंथ लिखकर न केवल सदाचार और संयम का आदर्श स्थापित किया, अपितु परमार्थ तत्त्व का भी निरूपण कर दिखाया और साथ ही काव्य की भाषा में रखकर उसे सरसता भी प्रदान की। उक्त अंतिम दो पदों की टीकाकारों द्वारा उपेक्षा होने का कारण केवल यही हो सकता है कि वे कवित्व की दृष्टि से उत्तम नहीं, केवल कथा उनमें द्रुतगति से छलाँग मारती है। इसी कारण संभवतः ये दोनों पद एक दृष्टि से आवश्यक होते हुए भी प्रायः भुला दिए गए और कालांतर में यदा-कदा उपलब्ध होने से प्रक्षिप्त माने जाने लगे।

नेमिदूत में अध्यात्म

नेमिदूत के ऐतिहासिक कथानक को भी आध्यात्मिक तत्त्व-निरूपण का माध्यम बनाया गया है, इसमें संदेह नहीं। परंतु मेघदूत और नेमिदूत में पर्याप्त अंतर है। जहाँ मेघदूत का यक्ष अमरावती (स्वर्ग) में स्थित निज पत्नी के लिये व्याकुल है, वहाँ नेमिदूत का नायक संपूर्ण योगों को त्यागकर योगासक्त हो स्वयं 'केवल ज्ञान' प्राप्त करता है और अपनी शरण में आई हुई राजमती को भी 'शाश्वत आनंद' की प्राप्ति कराता है। जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकर में मानवता का वह आदर्श है जिसे भगवत्तत्त्व कह सकते हैं और जो साधक के लिये एक मात्र साध्य है। अतः जब साधक (राजमती) नेमिनाथ के पास जाता है, तो वे पर्वत (पिंड के आध्यात्मिक जगत्) के उच्चतम शिखर (आनंदमय कोश के उच्चतम स्तर) पर आसीन दिखाई पड़ते हैं, न कि मेघदूत के यक्ष की भाँति केवल विभिन्न आश्रमों में बसते हुए—

सा तत्रोच्चैः शिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं,
नासान्यस्तानिमिषनयनं ध्याननिर्धूतदोषम्।
योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥१॥

ऐसे महान् साध्य को प्राप्त करना सरल नहीं। उसके लिये अगाध भक्ति की आवश्यकता है, जिसमें मान-मर्यादा, सुख-दुःख आदि किसी बात की चिंता नहीं रहती; क्योंकि—

भक्ति का मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहीं चाहना, चरनन लौलीना रे॥
साधन के रस-धार में रहे निस-दिन भीना रे।
राग में सुत ऐसे बसै, जैसें जल मीना रे॥
साईं सेवन में देत सिर, कुछ बिलम न कीना रे।
कहैं कबीर मत भक्ति का, परगट कर दीना रे॥

अतः नेमिदूत में राजमती की विरह-व्यथा में साधक की तपस्या का रूपक समझना चाहिए। भक्त तो अपने लौकिक 'पत्रं पुष्पं' को ही बहुत कुछ मानता है, अतः वह भगवान् के सामने उन्हीं को भोग्य रूप में रखता है। राजमती द्वारका आदि नगरियों, स्वर्णरेखा आदि नदियों तथा गंधमादन आदि पर्वतों के प्रतीकों द्वारा उन्हीं की ओर संकेत करती है, परंतु 'शम-सुख-रत' भगवान् द्वारा उन सबके ठुकराए जाने पर अंत में सब प्रयत्न छोड़कर वह पूर्ण आत्मसमर्पण करके एकमात्र भगवत्कृपा की अभिलाषिणी रह जाती है—

धर्मज्ञस्त्वं यदि सहचरीमेकचित्ता च रक्ता,
किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्षसे दह्यमानाम्।
तत्स्वीकारात्कुरु मयि कृपां यादवाधीश बाला,
त्वामुत्कण्ठाविचरितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥११०॥

नेमिदूत में रस

इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में नेमिदूत का शृंगार अत्यंत उदात्त और उत्कृष्ट हो जाता है। राजमती के विप्रलंभ का जन्म विवाह के उपरांत संभोग की आशा, अभिलाषा और संभावना के विनाश से होता है। परंतु इस वियोग की परिणति सुखांत होते हुए भी साधारण शृंगारात्मक संयोग में न होकर शांत रस में होती है। नायक-नायिका का मिलन शारीरिक भोगों के लिये नहीं, मोक्ष-सौख्य की प्राप्ति के लिये होता है—

चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः।

भारतीय आदर्श के अनुसार संयोग साध्य नहीं है, वह तो एक प्रकार से तपोमय जीवन का पर्यायवाची बनकर अंततोगत्वा मुक्ति का साधन होना चाहिए। इसीलिये रामायण और महाभारत का रति-भाव अयोध्या के वैभवपूर्ण वातावरण को छोड़कर वन के कंटकों में, अभिज्ञान शाकुंतल तथा विक्रमोर्वशी का

वियोग के श्वासोच्छ्वास में, बुद्धचरित एवं भर्तृहरिशतक का वैराग्य में और मीरा तथा गोपियों का भक्तिप्रवणता में पनपता हुआ शम-भाव में परिणत होने की क्षमता प्राप्त करना चाहता है। रति भाव की अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य में तीन प्रकार से हुई है—

(१) संभोग को ही साध्य मानकर; जैसे दुष्यंत-शकुंतला में। (२) चिरंतन प्रेम को ही साध्य मानकर; जैसे गोपियों और मीरा में और (३) वैराग्य बुद्धि या कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर; जैसे बुद्धचरित एवं कुमारसंभव में। पहले प्रकार में प्रेमी प्रेमांध होकर चलता है और ठोकर खाकर सँभलता है। दूसरे में प्रेम का प्यासा प्रेमी समझता है कि—

मिलन अंत है मधुर प्रेम का, और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत गति है, और सुषुप्ति मिलन है॥

अतः वह चिर वियोग में ही मग्न रहता है। इस प्रकार की प्रेमाभिव्यक्ति लौकिक जीवन के लिये घातक है, अतएव इसका चित्रण केवल भक्त के जीवन में ही ठीक समझा गया है; क्योंकि अंत में उसकी परिणति भगवत्साक्षात्कार में होकर सुखांत हो जाती है। तीसरे प्रकार में प्रेमी भोग-बुद्धि की निस्सारता समझकर केवल कर्त्तव्य भाव से संभोग में प्रवृत्त होकर निष्काम भाव से कर्म करता हुआ मुक्ति की ओर अग्रसर होता जाता है, अथवा विरक्त रहता हुआ अपने प्रेमी को शाश्वत सुख का आस्वादन कराता है।

नेमिदूत का शृंगार अंतिम प्रकार का है। कुमारसंभव की भाँति यहाँ भी नायक एक पर्वत-शिखर पर योगासक्त होकर बैठा है और नायिका अभिलाषा-हेतुक वियोग से व्यथित होकर उसके सामने खड़ी याचना कर रही है। वह इहलोक के सौंदर्य, ऐश्वर्य और आकर्षण का वर्णन करती है, नायक को कर्त्तव्यों का ध्यान दिलाती और यथासंभव उसमें संभोग-प्रवृत्ति जगाने का प्रयत्न करती है; परंतु अंत में पार्वती के समान संपूर्ण वैभव, विलास और सौंदर्य का तिरस्कार सा करती हुई वह सखी-मुख से, अपने पवित्र प्रेम तथा अनन्य साधन से युक्त प्रवासहेतुक विप्रलंभ का सजीव वर्णन करवाती है, जिसमें राजमती की अभिलाषा, चिंता, स्मृति, कृशता, व्याकुलता आदि के साथ साथ उसके उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, स्वप्न आदि दशाओं का अच्छा चित्रण किया गया है। पार्वती के समान राजमती की माता भी उसे समझाती-बुझाती है, परंतु इससे उसकी व्यथा कम नहीं होती—

मातुः शिक्षाशतमलममवशाय दुःखं सखीना-
मन्तश्चिसेष्वजनयदियं पार्श्वपङ्क्तेष्वहाथि।

हस्ताभ्यां प्राक् सपदि रुदती रुन्धती कोमलाभ्या
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबला वेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ १०६ ॥

स्वप्न में कभी कभी प्रिय मिलन हो जाता है, बात करने की इच्छा से मुँह खोलती है, परंतु हाय ! क्रूर कृतांत को इतना भी सह्य नहीं है—

रात्रौ निद्रा कथमपि चिरात् प्राप्य यावद्भवन्तं,
लब्ध्वा स्वप्ने प्रणयवचनैः किञ्चिदिच्छामि वक्तुम्।
तावत्तस्या भवति दुरितैः प्राक्कृतैर्मे विरामः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते भङ्गमा नौ कृतान्तः ॥ ११३ ॥

ऐसी अवस्था हो भी क्यों न ? कामदेव का उसपर कोप भी तो बहुत है ? परंतु इसका कारण वह स्वयं नहीं। जब कामदेव श्री नेमि के तप को प्रलोभनों से भंग न कर सका, तब उसने अपना बदला बेचारी 'अबला' से लिया। ठीक है, बेचारी पार्वती को भी तो यही सहना पड़ा था—

असह्यहुङ्कारनिवर्तितः पुरा
पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः।
इमां हृदि व्यायत पातमक्षिणो-
द्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥

इस प्रकार की व्यथा और वेदना सुनकर 'पाणित्राणप्रवणहृदय' श्री नेमिनाथ भला कैसे न पसीजते ? उनका हृदय दया से द्रवीभूत हो गया—अर्थकाम परायण होने के लिये नहीं, अपितु धर्ममोक्ष के विस्तार के लिये; स्वयं नीचे गिरने के लिये नहीं, राजमती को अपने स्तर पर लाने के लिये—

तत्सख्योचे वचसि सदयस्तां सतीमेकचित्तां।
सद्बोधेशः समववितो रम्य धर्मोपदेशैः ॥

अतः नेमिदूत में जो रस-विस्तार पाया जाता है वह रीतिकालीन श्रृंगारियों तथा अर्थकाम-परायण प्रगतिवादियों की आँखें खोलनेवाला होना चाहिए। भारतीय साहित्य में इसी प्रकार के श्रृंगार की महिमा है, न कि इंद्रियलोलुपता बढ़ानेवाले विलासप्रधान श्रृंगार की। धर्ममोक्ष की ओर जानेवाला श्रृंगार ही व्यक्ति के चरित्र को उदात्त बना सकता और मानव व्यवहार में "रसो वै सः" को उतारकर मनुष्य-जीवन को सुंदर, सत्य और शिव बनाने में सक्षम होता है। क्या हमारे साहित्य में श्रृंगार के इस आदर्श की पुनः स्थापना हो सकेगी ?

चयन

राष्ट्रपति का भाषण

३ मार्च को आरा-नागरीप्रचारिणी-सभा द्वारा अभिनंदन ग्रंथ भेंट किए जाने पर राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद ने जो भाषण दिया था उसका मुख्य अंश यहाँ उद्धृत है—

हिंदी की सर्वतोमुखी उन्नति

पिछले ४०-५० वर्षों में हिंदी साहित्य की जो उन्नति हुई है उसका यदि दिग्दर्शन किया जाय तो उससे पता चलेगा कि हिंदी साहित्य इस अर्ध शताब्दी में कितना और कितनी तेजी के साथ बढ़ा है। आज केवल गद्य और पद्य की रचना ही ऊँचे दर्जे की नहीं हो रही है बल्कि अन्य विषयों में, जिनका संबंध दर्शन, विज्ञान आदि के साथ है, बहुत ग्रंथ लिखे गए हैं और प्रतिदिन उनकी संख्या बढ़ती जा रही है। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बहुत हो गई है और उनमें बहुतेरी उच्च कोटि की भी हैं।

मुझे संतोष है कि हिंदी साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है। यहाँ मैं प्रस्तुत साहित्य की समालोचना न करके उन खतरों की तरफ ध्यान दिलाना चाहता हूँ जो इसे हानि पहुँचा सकते हैं और उन दिशाओं को दिखलाना चाहता हूँ जिनकी ओर हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य को अग्रसर होना चाहिए।

हिंदीभाषियों का उत्तरदायित्व

मेरा अनुमान है कि जिस प्रकार हिंदी बोलने और समझनेवालों की संख्या देश भर में अन्य सभी भाषाओं के बोलने और समझनेवालों से अधिक है, उसी प्रकार यदि हिंदी की सब पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशित पुस्तकों के पढ़नेवालों की संख्या भी इकट्ठी की जाय तो और किसी भारतीय भाषा में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के पाठकों की संख्या से वह अवश्य अधिक निकलेगी। पर आज जैसी स्थिति में, और जब हिंदी अखिल-भारतीय कामों के लिये संविधान में राजकीय भाषा मान ली गई है, वह दिन दूर नहीं है जब हिंदी पाठकों की

संख्या और भी अधिक बढ़ेगी और हिंदी के अच्छे ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं की माँग कहीं अधिक हो जायगी। यह शुभ लक्षण है। साथ ही, हिंदी साहित्यिकों, पत्रकारों और लेखकों की जिम्मेदारी भी बहुत बढ़ जाती है। जैसे जैसे अहिंदी प्रांतों में हिंदी का प्रचार बढ़ेगा, वहाँ के लोग हिंदी के प्रकाशनों की तुलना अपने प्रादेशिक प्रकाशनों से करने लगेंगे।

इस तरह उत्तम से उत्तम पत्रों और ग्रंथों की तुलना हिंदी के किसी भी पत्र और ग्रंथ के साथ की जायगी। क्या हम आज यह दावा कर सकते हैं कि इस होड़ में हम सफल हो सकेंगे?

प्रतिभाशाली गद्य-पद्य के रचयिता सभी भाषाओं में समय समय पर ही हुआ करते हैं। वह प्रतिभा प्रकृति की देन हुआ करती है, जो किसी दूसरे प्रकार से प्राप्त नहीं की जा सकती। पर प्रतिभा के अतिरिक्त और जितने गुण होने चाहिएँ वे इसी जन्म में प्राप्त किए जा सकते हैं। वे सब परिश्रमसाध्य हैं। इसलिये किसी को यह सोचकर कि उसमें प्राकृतिक प्रतिभा नहीं है, निराश होकर बैठ रहना उचित नहीं। परिश्रम द्वारा यह कमी बहुत हद तक दूर की जा सकती है और मैं चाहता हूँ कि हिंदीप्रेमी अपने इस उत्तरदायित्व को पूरी तरह समझें।

जब संविधान परिषद् मे हिंदी को राजकीय भाषा बनाने के संबंध में वाद-विवाद हो रहा था तब कई अहिंदीभाषियों ने यह स्पष्ट कहा था कि 'हम हिंदी को इसलिये अखिल-भारतीय राजकीय भाषा नहीं मान रहे हैं कि वह भारतीय भाषाओं में सबसे अधिक उन्नत है अथवा उसका साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से बढ़ा चढ़ा है, बल्कि हम हिंदी को इसी लिये स्वीकार कर रहे हैं कि कि वह दूसरी भाषाओं की तुलना में देश के बहुत बड़े भाग में समझी और बोली जाती है और उसके समझने और बोलनेवालों की संख्या और किसी भाषा के समझने और बोलनेवालों की संख्या से बहुत अधिक है।' इस कथन में तथ्य है और हिंदीवालों के लिये एक प्रकार की चुनौती भी है। हिंदीभाषियों को अपना उत्तरदायित्व और कर्तव्य समझना चाहिए। जो गौरव हिंदी को सार्वदेशिक राजकीय भाषा होने का मिला है उसके योग्य उन्हें हिंदी को सिद्ध करना है।

शब्दभंडार

सबसे पहली बात यह है कि हिंदी का शब्दभंडार जितना बढ़ सके उतना बढ़ाना चाहिए। शब्दों को लेने में हमें न तो संकोच होना चाहिए और न किसी

प्रकार का ओछापन आने देना चाहिए। आज की हिंदी की शब्दावली में केवल संस्कृत के ही तत्सम या तद्भव शब्द नहीं हैं। देश की दूसरी भाषाओं के अतिरिक्त उसमें विदेशी शब्द भी आ गए हैं जिनका मूल अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी, लैटिन, फ्रांसीसी, स्पेनिश, पोर्चुगीज, डच इत्यादि भाषाओं में मिलता है। जिन जिन भाषाओं के बोलनेवालों के साथ हिंदी का संपर्क हुआ उनके कुछ न कुछ शब्द हिंदी ने ग्रहण कर लिए। यह सभी जीती-जागती भाषाओं का लक्षण है और ऐसा करने से हिंदी की कोई हानि नहीं हुई, बल्कि लाभ ही हुआ है। इसलिये इस नीति को छोड़ना नहीं चाहिए और अन्य भाषाओं से शब्दों को लेकर उन्हें हिंदी का जामा पहनाकर ऐसा बना देना चाहिए कि वे हिंदी में घुल-मिल जायँ। मेरा विश्वास है कि जब एक अर्थ के कई शब्द हिंदी में हो जायँगे तब धीरे धीरे उनके अर्थों में बारीक फर्क पड़ने लग जायगा और कुछ दिनों में विचार की बारीकी व्यक्त करने के लिये इन शब्दों का अलग प्रयोग होने लगेगा। यह बारीकी जितनी आती जायगी, भाषा उतनी ही समुन्नत होती जायगी। इसलिये मैं किसी प्रकार के शब्दों के बहिष्कार के पक्ष में नहीं हूँ और चाहता हूँ कि हिंदी का द्वार खुला रहे और दूसरी भाषाओं के शब्द भी, विशेषकर भारत की प्रादेशिक भाषाओं के शब्द जिनके ठीक पर्याय हिंदी में नहीं मिलते, लाए जायँ। हिंदीभाषी प्रदेशों के गाँवों में भी बहुतेरे ऐसे शब्द ग्रामीण भाषा में मिलते हैं जो बहुत ही सुंदर, मधुर और अर्थभरे होते हैं। उनको भी यह कहकर कि वे ग्रामीण हैं, नहीं छोड़ना चाहिए। जो पहले से ही प्रचलित हैं उनको निकाल देने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

मुहावरे

शब्दों के अतिरिक्त बहुत से मुहावरे भी बड़े रोचक, सुगम और अर्थभरे होते हैं। इनमें बहुतेरे ऐसे होते हैं जो एक भाषा से दूसरी भाषा में नहीं लिए जा सकते, पर कुछ ऐसे भी होते हैं जो सुगमतापूर्वक एक से दूसरी भाषा में अपनाए जा सकते हैं, विशेषकर जब ऐसी भाषाओं का उद्गम एक हो अथवा उनका एक दूसरे के साथ संपर्क रहा हो और वे एक दूसरे को प्रभावित कर सकती हों। मेरा विश्वास है कि भारतीय भाषाओं में ऐसे अनेक मुहावरे या प्रयोग होंगे जो हिंदी में आ गए हैं या आ रहे हैं या लाए जा सकते हैं। हिंदी का संपर्क अन्य भाषाओं से जितना बढ़ेगा उतना ही ऐसे प्रयोगों का अधिक उपयोग मालूम होने लगेगा।

शैली और व्याकरण

प्रत्येक भाषा की अपनी शैली और अपना व्याकरण हुआ करता है। पर यह भी मानना ही पड़ेगा कि जब दूसरी भाषाओं के साथ उसका संपर्क बढ़ता है तब उस शैली और व्याकरण में भी कुछ न कुछ परिवर्तन हुए बिना नहीं रह सकता। कुछ परिवर्तन तो जान-बूझकर किए जाते हैं और कुछ स्वयं हो जाते हैं, उनके संबंध में यह कहना संभव नहीं होता कि वे क्यों, कब और किस प्रकार हुए। हिंदी भाषा का संपर्क ज्यों ज्यों दूसरी भाषाओं के साथ बढ़ेगा, उसमें भी यह परिवर्तन अनिवार्य होगा।

उदार दृष्टि

शब्दावली, मुहावरे, शैली और व्याकरण संबंधी जो परिवर्तन या परिवर्धन हिंदी में होना चाहिए या होगा वह किसी विशेष विद्वन्मंडली अथवा संस्था के करने से नहीं होगा। जीती-जागती भाषा इस प्रकार की संस्थाओं के प्रस्तावों और निश्चयों से न बढ़ाई जा सकती है और न घटाई, और न उसकी चाल ही निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन या परिवर्धन संपर्क के स्वाभाविक फल होते हैं। बुद्धिमानी और समय का तकाजा है कि इनके मार्ग में रोड़े न अटकाए जायें और भाषा-विकास के प्राकृतिक नियमों को अबाध रूप से काम करने का मौका दिया जाय। हिंदी के सार्वदेशिक राजकीय भाषा बन जाने के कारण आज यह आवश्यक तथा अनिवार्य हो गया है। हम हिंदीभाषी यदि इसमें अनुदार हुए और इस विचार से कि हिंदी भाषा हमारी है और इसकी शुद्धता और पवित्रता इस प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन से नष्ट हो जायगी, हमने कोई बाधा डालने का प्रयत्न किया तो हमारा प्रयत्न या तो असफल होकर रहेगा, या सफल हुआ तो हिंदी को सार्वदेशिक भाषा बनने से वंचित होकर रहना पड़ेगा। वह एक प्रादेशिक भाषा होकर रह जायगी। आज हिंदी की होड़ भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं के साथ है और वह सार्वदेशिक स्थान तभी सुरक्षित रख सकती है जब वह अपने में इतनी उदारता और लचक ला सके कि सब दूसरी भाषाएँ उसे अपना सकें। अपनाने का यह अर्थ नहीं कि हिंदी हिंदी न रह जाय बल्कि यह कि हिंदी रहते हुए वह सार्वदेशिक हो जाय।

अन्य भाषाओं का ज्ञान

हिंदीभाषियों को चाहिए कि वे अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करें। कम से कम कोई एक दूसरी भाषा तो प्रत्येक हिंदीभाषी को सीखनी ही चाहिए।

इससे यह लाभ होगा कि हिंदीभाषी दूसरे प्रदेशों के साथ अपना संपर्क और अपनापन बढ़ा सकेंगे और उनको इसका भी मौका मिलेगा कि वे हिंदी के नव-प्रकाशित ग्रंथों और पत्रों को उस दूसरी भाषा के ग्रंथों और पत्रों से तुलना करके स्वयं देख सकेंगे कि हिंदी कहाँ तक उनके मुकाबले में पहुँचती है, उसमें क्या त्रुटियाँ रह जाती हैं और किस दिशा में उसे कौन सी कमी पूरी करनी है। जो लोग कुछ लिखना या कोई विशेष रचना करना चाहते हैं उनके लिये तो दूसरी भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य मानना चाहिए। इसके बिना उनकी रचनाओं में न तो वह व्यापकता आ सकेगी और न वह ओज, जो अच्छे साहित्य के लिये आवश्यक है। अहिंदी प्रदेशों के लोगों ने तो जान-बूझकर राष्ट्रहित के विचार से हिंदी सीखने का बोझ अपने सिर पर उठाया है। तो क्या हम हिंदीभाषी इतना भी नहीं करेंगे कि उन दूसरी भाषाओं के बोलने और लिखनेवालों के विचारों और उद्‌गारों से अपने को परिचित बनाएँ ? इस परिचय से हम उनपर कोई मेहरबानी या एहसान नहीं करेंगे, यह तो हिंदी को उन्नत और समृद्ध बनाने में काम आएगा जिसके बिना, हिंदी को जो स्थान मिला है उसे स्थिर रखना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा।

एक दूसरी दृष्टि से भी अन्य भाषाओं का ज्ञान हिंदीभाषियों के लिये अत्यंत आवश्यक है। हिंदी का प्रचार अहिंदी प्रांतों में करना है। आरंभ में इसमें हिंदीभाषियों को बहुत कुछ करना होगा। जब तक वे दूसरे प्रांतों की भाषाओं का कम से कम कामचलाऊ ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते तब तक इस काम को नहीं कर सकेंगे। दक्षिण भारत में जब हिंदी का प्रचार आज से ३०-३२ वर्ष पहले आरंभ किया गया था तो पहले हिंदीभाषियों को ही जाकर यह कार्य आरंभ करना पड़ा था। अब तो वहाँ के निवासियों में ही बहुतेरे इस काम को बहुत सफलता-पूर्वक कर सकते हैं और कर रहे हैं। तो भी जो पंद्रह वर्ष की अवधि हमारे संविधान ने दी है उसके भीतर ही यदि सभी प्रांतों में हिंदी का प्रचार और प्रसार होना है तो हिंदीभाषियों का यह बहुत बड़ा कर्तव्य हो जाता है कि वे दूसरी भाषाएँ सीखकर इस काम में जितनी सहायता दे सकते हैं, दें।

हिंदी साहित्य के भंडार को भरपूर और राष्ट्रभाषा के योग्य बनाने के लिये पहली आवश्यक बात यह है कि हिंदी में उच्चकोटि के मौलिक साहित्य का निर्माण किया जाय। साहित्य से मेरा मतलब केवल उन गद्य और पद्य की कृतियों से नहीं

है जिन्हें हम साधारणतः साहित्य समझते हैं। साहित्य शब्द का व्यवहार मैंने एक विस्तृत और व्यापक अर्थ में किया है और इसमें मैं सभी विषयों से संबंध रखनेवाले उन ग्रंथों और कृतियों को समाविष्ट करता हूँ जो मौलिक खोज और अनुसंधान के फल हैं—चाहे वह खोज और अनुसंधान किसी वैज्ञानिक विषय से संबंध रखता हो या प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व, भूगोल खगोल, रेखागणित, बीजगणित आदि के साथ अथवा इस प्रकार की गद्य पद्य रचना के साथ, जिसे हम साधारणतः साहित्य नाम देते हैं। और अब हम उसके भंडार को भरपूर करने की बात करते हैं तो इन सबकी पूर्ति चाहते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि हिंदीभाषी इन सभी विषयों के स्वतंत्र और मौलिक ग्रंथ लिखने की योग्यता प्राप्त करें और लिखें।

अनुवाद

मौलिक कृतियों के अतिरिक्त अनुवाद के लिये बहुत बड़ा क्षेत्र है। भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य का निर्माण और प्रकाशन होता ही रहता है। उनमें जितने अच्छे ग्रंथ हों, चाहे वे प्राचीन हों या नवीन और चाहे जिस विषय के हों, यदि उनमें कोई ऐसा विषय या तथ्य हो जो हिंदी के लिये आवश्यक और हितकर समझा जाय तो उनका अनुवाद हिंदी में अवश्य होना चाहिए। आज अनुवाद विशेषकर हिंदीभाषियों को ही करना होगा और वह केवल भारतीय भाषाओं से ही नहीं, बल्कि संसार की दूसरी भाषाओं से भी करना होगा। यह तभी हो सकता है जब कुछ हिंदी के विद्वान् दूसरी भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान और उनके साहित्य से इतना परिचय प्राप्त कर लें कि वे उनमें से अच्छे और उच्च कोटि के ग्रंथों को चुनकर निकाल सकें और उनको पढ़कर केवल स्वयं रसास्वादन न कर सकें, बल्कि इतनी योग्यता रखें कि मौलिक ग्रंथ की रचना के ओज को अपने अनुवाद में भी कुछ हद तक ला सकें।

अश्लील साहित्य

सबसे बड़ा डर मुझे इस बात का है कि हिंदी पाठकों की संख्या बढ़ जाने से हर प्रकार की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार अधिक हो रहा है और आगे और भी अधिक होनेवाला है। कुछ दिन पहले इस विषय पर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने कुछ चर्चा छेड़ी थी और तुच्छ हानिकारक साहित्य को 'घासलेटी' नाम दिया था। मुझे डर है कि अब जब हिंदी पाठकों की संख्या बढ़ेगी, घासलेटी साहित्य की वृद्धि होगी। हिंदी साहित्यकारों और प्रकाशकों का यह कर्तव्य होना

चाहिए कि इस प्रकार के साहित्य के प्रचार को रोकें, कम से कम उसमें सहायक न हों। यह काम सरल नहीं है, क्योंकि इसका संबंध पैसों से जुड़ा हुआ है। पैसों का लोभ संवरण करना आसान नहीं। पर मैं मानता हूँ कि यदि उच्चकोटि के साहित्यकारों और आलोचकों ने इसपर ध्यान दिया तो इस प्रचार को रोकने में वे सफल हो सकते हैं। हमको समझना चाहिए कि हिंदी का घासलेटी साहित्य केवल हिंदीभाषियों के ही हाथों में नहीं आयगा। अब वह अन्य भाषाभाषियों के हाथों में भी पहुँचेगा और इससे सारे हिंदी साहित्य की बदनामी होगी। इसलिये हिंदी की प्रतिष्ठा की यह अपेक्षा है कि इस प्रकार का अस्वास्थ्यकर साहित्य हिंदी में स्थान न पाए और जिस प्रकार कोई चोर या व्यभिचारी किसी अच्छे समाज में स्थान नहीं पाता उसी प्रकार हमारा साहित्यिक समाज ऐसा बन जाय कि उसमें इस प्रकार के व्यभिचारी साहित्य को स्थान न मिल सके।

भारतीय साहित्य की एकता

नागपुर से प्रकाशित होनेवाली नवीन हिंदी मासिक पत्रिका "भारती" की, 'समस्त भारतीय साहित्य को प्रतिनिधि पत्रिका बनने की विशाल भावना' की प्रशंसा करते हुए उसके फरवरी-मार्च १९५० के अंक में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का उक्त शीर्षक तत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है, वह यहाँ अविकल उद्धृत है—

राष्ट्र एक भावना है। करोड़ों नर-नारियों की दृढ़ संकल्प-युक्त इच्छा पर ही इस राष्ट्रीय भावना की रचना हुई है। आज पूर्ण स्वतंत्रता पाने के बाद असंख्य भारतीय अपने आचार और विचारों में इसी भावना को व्यक्त कर रहे हैं। हमारा यह भारत अब एक है, अखंड है और अविभाज्य है।

यह भावना कई रूपों में, कई तरह से, व्यक्त होती है। अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग इस भावना को अंगरेजी द्वारा जाहिर करते हैं, दूसरे लोग अपनी मातृभाषा में। प्रयत्न एक ही दिशा में अनेक हो रहे हैं। वे प्रयत्न राष्ट्रभाषा और साहित्य के बिना एकरूप नहीं हो सकते।

अब हिंदी राष्ट्रभाषा के रूप में समस्त भारत को मान्य हो चुकी है। राष्ट्र के कर्णधारों ने इसे जीवित राष्ट्रभाषा बनाने का दृढ़ संकल्प कर लिया है। परंतु यह भाषा सिर्फ व्यवहार की, आपस के बोलचाल की, ही नहीं, हमारे भारतीय साहित्य की भी होनी चाहिए। सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा सौंदर्य-

दर्शन में भी उसका उपयोग होना चाहिए। यदि भारत एक है तो इसका सांस्कृतिक विनिमय और सौंदर्य-दर्शन एक ही भाषा में तथा परस्परावलंबी साहित्य-प्रवाह द्वारा करना चाहिए।

राष्ट्रभाषा में हमें अपनी प्रांतीय भाषाओं के तत्त्वों का बल पहुँचाना होगा। भारतीय साहित्य वही है जिसमें प्रांत-प्रांत की साहित्य-समृद्धि का सर्वांगसुंदर सार और सत्त्व हो। अपने राष्ट्र की आत्मा का साहित्य द्वारा सबको दर्शन हो।

देश के सभी प्रांतों के साहित्य में आंतरिक एकता समाई हुई है। साहित्यिक रचनाएँ चाहे जिस भाषा में लिखी गई हों, वे सब एक सूत्र में 'सूत्रे मणिगणा इव' पिरोई हुई हैं। हमारा यह सूत्र कोई नया नहीं, हमारी सदियों की परंपरा से चला आ रहा है। हरएक साहित्य में भगवान कृष्ण द्वैपायन व्यास की प्रेरणा है। आदिकवि वाल्मीकि की रामायण के अप्रतिम सौंदर्य का प्रतिबिंब हरएक में झलकता है। हमारे पुराणों की प्रतिध्वनियाँ युग-युग के भारतीय साहित्य में गूँजती हैं। संस्कृत-साहित्य के निर्माताओं की ज्योति ने प्रत्येक प्रांत के साहित्यकारों को प्रोत्साहन और प्रेरणा प्रदान की है। हमारे कथा-साहित्य ने भी एक सूत्र रूप होकर प्रत्येक प्रांत के साहित्य को एक शृंखला में बाँधा है। जातक की कथाएँ किसी-न-किसी रूप मे हरएक प्रांतीय साहित्य में मिलती हैं। महाकवि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और पंचतंत्र' के अनुवाद सभी प्रांतों ने प्रेमपूर्वक अपनाए हैं। ये अपनी लोककथाएँ इस देश का स्वयंभू और जीवित साहित्य हैं। और इसका मूल तत्त्व इस महान देश की प्रजा की समान-संस्कारी कल्पना में मौजूद है।

पिछले युग में भागवत धर्म और भगवद्भक्ति ने हरएक प्रांत के साहित्य को जन्म दिया। विद्यापति और चंडीदास, सूर और तुलसी, ज्ञानदेव और तुकाराम, नरसी, मीरा और कबीर, आलवार और अनेक साधु-संतों के पद, जगद्‌गुरुओं—शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ और चैतन्य—के सिद्धांत जहाँ एक तरफ से भारत की सांस्कृतिक एकता का हमें संकेत देते हैं वहाँ दूसरी तरफ वे समस्त भारत के संस्कारों को भी एकरूप बनाते हैं।

और मुसलिम राज्यकाल मे हिंदू-मुसलिम संस्कारों के विनिमय का असर हमारे किस प्रांत पर नहीं पड़ा? यदि संगीत में मुसलमानों ने हिंदुओं की शब्दावली और रस को अपनाया, तो नीति और राजकीय विषयों में मुसलमानों की शब्दावली का इस देश में प्रचार हुआ। अमीर खुसरो राष्ट्रभाषा हिंदी—खड़ी बोली—का आदि

कवि हुआ, जिसकी रसीली सुंदर पहेलियाँ और मुकरियाँ आज तक हिंदी भाषा की संपत्ति हैं; और इस क्षेत्र में खुसरो के जोड़ का अबतक कोई दूसरा पैदा नहीं हुआ। सदियों तक यह आदान-प्रदान होता रहा। हिंदू कवि फारसी, और उसके बाद उर्दू में कविता करते थे और मुसलमान कवि हिंदी में। जिन मुसलिम कवियों ने हिंदी में काव्य-रचना की, उनपर आज भी हिंदी को गर्व है। मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' तो हिंदी भाषा का आज भी गौरव है और सूफी कवियों ने तो मत-मतांतरों और पंथों के बंधनों को तोड़कर प्रेम और ऐक्य की जो धारा बहाई उससे कौन सी भाषा प्रभावित नहीं हुई ?

अँगरेजों के यहाँ आने के बाद साहित्य के आदर्श अँगरेजी साहित्य के आधार पर नए साँचे में ढले। निबंध, कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास आदि में स्वरूप, सूक्ष्मता, और सरसता इंग्लैंड के 'रोमांटिसिज्म' द्वारा बने हुए लेखक के हृदय से निकली और यह सब हमें शेली, वर्ड्स्वर्थ, स्कॉट, लीटन और शेक्सपियर की प्रेरणा से मिले।

१९०४ ई० में बंग-भंग के बाद जो प्रचंड राष्ट्रीयता का ज्वालामुखी भड़का उसका हमारे जीवन पर और साहित्य पर भी असर पड़ा। आज हमारा साहित्य, हमारी संस्कारिता, महात्मा गांधी के पराक्रमों और गुरुदेव रवींद्र की रचनाओं से प्रभावित हैं। हरएक प्रांतीय साहित्य को उनकी चेतना की प्रेरणा प्रगति के पथ पर अग्रसर कर रही है।

भारतीय साहित्य में मौलिक एकता पहले भी थी और आज भी है। सिर्फ भाषा का परिधान हर प्रांत में पृथक् रहा। सारा साहित्य एक ही स्थल पर, एक ही भाषा द्वारा, भारतीयों को मिलने लगे तो अवश्य यह एकता एक स्पष्ट स्वरूप प्राप्त कर दृढ़ बनेगी। एक ही जगह में, और एक ही भाषा में, सब प्रांतों का साहित्य संगृहीत होने से प्रत्येक साहित्य को स्फूर्ति और वेग मिले बिना न रहेंगे। कुछ लोगों को यह भय है कि इससे प्रांतीय साहित्यों की सरसता और उनकी विशिष्टता चली जायगी। कुछ लोगों को इस प्रयत्न में प्रांतीय गौरव के भंग होने के लक्षण दीखते हैं। किंतु गहराई के साथ सोचें तो यह भय, ऐसी आशंका, निराधार लगती है। प्रांतीय साहित्य एक दूसरे के साथ बराबर की कतार में खड़े हुए एक दूसरे का मापन करते रहें, और एक दूसरे के संपर्क से नए आदर्श, नई प्रेरणा, नई स्फूर्ति पाते रहें, तो क्या इससे किसी भी प्रांतीय साहित्य को आघात पहुँच सकता है ? आज

जो कई जगह हमारा साहित्य संकीर्ण होता हुआ दीख रहा है, वह प्रवाहित हो उठेगा। कालिदास, होमर, गेटे या शेली, ये मनुष्यमात्र को सरसता और समरसता का पाठ सिखाते हैं। और जब तक हमारा भारतीय साहित्य विशाल क्षेत्र में संचरण न करने लगे, तब तक विश्व-साहित्य में स्थान ग्रहण करने योग्य न होगा। अतः इसमें जरा भी संदेह नहीं कि इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य संकुचित होने के बदले और भी अधिक रमणीयता तथा विशालता प्राप्त करेगा।

कुछ लोग कहा करते हैं कि ये प्रयत्न हिंदी में क्यों और किस लिये? अँगरेजी में क्यों नहीं?

यह बेढंगा सवाल आज सन् १९५८ ई० में भी पूछा जा सकता है! आश्चर्य और दुख की बात है। इस भारत में क्या इतनी भी ताकत नहीं रही, और हमारी राष्ट्रभक्ति क्या इतनी निस्सत्त्व हो गई है कि हमें विदेशियों की भाषा के द्वारा अपने प्राण व्यक्त करने के लिये मजबूर होना पड़े। यह ठीक है कि अंगरेजी सुंदर भाषा है; उसके साहित्य में सरसता समाई हुई है, उसकी प्रेरणा के सहारे हमारा बहुत-सा आधुनिक साहित्य बनकर तैयार हुआ है। परंतु यह विदेशी भाषा इस देश के कितने लोगों की समझ में आती है? इस भाषा में हम अपने भारतीय संस्कारों को किस रीति से व्यक्त कर सकते हैं? अपनी देश-भाषा से बने हुए अपने संस्कारों को विदेशी भाषा के बेढंगे स्वरूप में किस प्रकार ढालकर व्यक्त करें?

हिंदी कई प्रांतीय भाषाओं की बड़ी बहन है। इस देश की कई करोड़ प्रजा हिंदी बोलती है, और उससे भी अधिक संख्या इसे समझती है। आज राष्ट्र-विधाताओं ने इसे राष्ट्र के सिंहासन पर बिठाया है। इसे छोड़ हम क्या पराई भाषा में साहित्य का विनिमय करें?

हिंदी में हरएक प्रांत का साहित्य अवतीर्ण हो, तो यह प्रयाग या काशी की निखालिस हिंदी नहीं होगी, इस हिंदी में प्रत्येक प्रांत की कुछ विशेषताएँ अवश्य होंगी। इसकी वाक्य-रचना में विविधता आएगी। इसके शब्द-भांडार में, कोश में, अन्यान्य नवीन भाषाओं के नए नए उपयोगी शब्द आ-आकर जमा होंगे। ऐसी अनेक सामग्रियों से संपन्न और सुसज्ज होकर ही हमारी राष्ट्रभाषा प्रकट होगी। भारतीय साहित्य की अभिव्यक्ति के लिये साहित्य की ऐसी कौन-सी भाषा समर्थ होगी? बाजार, फौजी शिविर या रोजगारों के सामान्य व्यवहार में आनेवाली सरल हिंदुस्तानी का घोष हम भले ही करें, परंतु जहाँ साहित्यिक वाक्पटुता, कला की

अभिव्यक्ति, कवित्व, अर्थ-सूचकता या. अर्थ-गंभीरता का प्रश्न खड़ा होगा वहाँ यह बाजारू या सामान्य व्यवहार की हिंदुस्तानी भाषा निकम्मी साबित होगी। वहाँ प्रत्येक लेखक अपनी प्यारी प्राचीन भाषा (क्लासिकल) में से कुछ आवश्यक एवं अपेक्षित समृद्धि इसमें ले लेगा। इसमें संदेह और निराशा के लिये जगह नहीं है। इसके लिये बड़े धैर्य और उदारता की आवश्यकता है। संसार में महान् कार्य लंबी मुद्दत और अविरत भगीरथ प्रयत्नों के बाद ही सिद्ध हुए हैं।

निर्देश

हिंदी

इतिहास का नया दृष्टिकोण—श्री बुद्धप्रकाश; "विश्ववाणी", फरवरी १९५० [ऐतिहासिक दृष्टि से संसार की एकता का प्रतिपादन।]

एकोरसः—श्री बलदेव उपाध्याय; 'कल्पना", फरवरी १९५० [काव्य-रस विषयानंद और ब्रह्मानंद से विलक्षण और वस्तुतः एकरूप हैं। अन्य रस इस मूलभूत आनंदमय महारस के विकारमात्र हैं।]

एशिया और भारत—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; "नया समाज", जनवरी १९५० [दोनों के इतिहास का घनिष्ठ संबंध और एशिया के इतिहास तथा उसकी संस्कृति पर भारत का प्रभाव।]

गुजराती साहित्य—श्री वामनकृष्ण चोरघड़े; "भारती", फरवरी मार्च १९५० [ऐतिहासिक परिचय]

तमिल साहित्य—का० श्री० श्रीनिवासाचार्य, वही। [ऐतिहासिक परिचय]

तेलुगु साहित्य—श्री वारणसि राममूर्ति, "नईधारा", अप्रेल १९५० [ऐतिहासिक परिचय]

पृथ्वीराजरासो संबंधी कुछ ज्ञातव्य बातें श्री उदयसिंह भटनागर; "शोध-पत्रिका" (उदयपुर), भाग २ सं० १ [रासो के सभी छंद जाली नहीं हैं, वे रक अलग किए जा सकते हैं।]

बाप्पा रावल के दो सोने के सिक्के—श्री रोशनलाल सामर; वही। [निकलसन और ओझा द्वारा पहिचाने गए सिक्के मेवाड़ के बाप्पा रावल के नहीं, किसी अन्य बोप्पराज के हैं।]

भारतीय पुरातत्त्व का विकास और उसकी समस्याएँ—डा० मोतीचंद; "प्रतीक", शिशिर ११, सं० २००६ [ऐतिहासिक आलोचन, शेषांश वसंत १२ में।]

यजुर्वेद क्या है—श्री युधिष्ठिर मीमांसक; "सरस्वती", फरवरी १९५० [परिचय]

राजस्थान की चित्रकला—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; "शोधपत्रिका", भाग २, सं० १ [आलोचनात्मक परिचय]

सूत्रधार मंडन का रूपावतार—श्री भोलाशंकर व्यास; वही। [मूर्तिकला संबंधी प्राचीन ग्रंथ का परिचय]

हिंदी को उदार वाणी—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; "कल्पना", फरवरी १९५० [प्रांतीय भाषाओं का उत्तम साहित्य हिंदी में अनूदित हो।]

अंग्रेजी

इलेवन इयर्स ऑव वर्क्स ऑन बुद्धिज्म इन यूरोप—श्री मार्सेलो लालू, इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली, भाग २५ सं० ४ [मई १९३६ से मई १९४७ तक बौद्ध-धर्म के विषय में यूरोपीय विद्वानों के अध्ययन की प्रगति।]

टर्टल लोर—डा० एस० टी० मोसेज, मीथिक सोसायटी की पत्रिका, भाग ३९ सं० २ [कच्छप के संबंध में लौकिक और पौराणिक ज्ञान का संग्रह।]

द ट्राइबल इमिग्रेशंस इन अकेमिनीड इंडिया—श्री सुधाकर चट्टोपाध्याय, इं० हि० का०, भाग २५ सं० ४ [सिकंदर के आक्रमण के पहले ही, अखामनी साम्राज्य के अंतर्गत पंजाब और उत्तर-पश्चिम भारत में शक, मग और यवन जातियाँ आ गई थीं।]

द फाउंडेशंस ऑव अथर्वणिक रिलिजन—श्री एन० जे० शेंडे; डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट की पत्रिका, भाग ७ सं० ३-४ [अथर्ववेद के देवों का अध्ययन; अथर्व संहिताओं में अदृश्य देव-शक्तियों के आवाहन पर आश्रित विशिष्ट धर्म और दर्शन।]

द रेप ऑव इंडियन शिप्स इन द इंडियन वाटर्स, १६१२—श्री जे० एन० सरकार; बिहार रिसर्च सोसायटी की पत्रिका, भाग ३५ सं० ३-४ [भारतीय समुद्र में अंगरेजों का दस्यु व्यापार; ई० १६१२ में सर हेनरी मिडलटन ने ११ भारतीय

व्यापारी जहाजों को बलात् रोककर उनका माल छीन लिया और कुछ मनमाना मूल्य लगाकर उसके बदले अंग्रेजी माल दिया तथा मुक्ति के लिये भी उन्हें प्रचुर धन देने को विवश किया।]

दि इंटरप्रिटेशन ऑव दि आर्यन ऐंड अबॉरिजिनल कल्चर्स इन इंडिया—डा० जी० वी० सीतापति; मी० सो० पत्रिका, भाग ३९ सं० २ [शबर जाति के मंत्र, ज्योतिष, संगीत-ज्ञान का मनोरंजक वर्णन; भाषा आदि का अध्ययन पूर्व अंकों में।]

शशांक—डा० बी० पी० सिन्हा; बि० रि० सो० पत्रिका, ३५।३-४ [राज्यवर्धन को मारनेवाले गौड़ नृपति, नरेंद्रगुप्त तथा कर्णसुवर्णनरेश शशांक—तीनों एक ही व्यक्ति थे। गुप्तों या समाचारदेव से उनका कोई संबंध नहीं था।]

सम न्यू लाइट ऑन द गहड़वार्स ऑव कनौज—डा० दशरथ शर्मा; वही। [प्राकृतपैंगल में वर्णित काशिराज, जिसका मंत्री विद्याधर था, गहड़वार नृपति जयचंद ही था।]

हिंदू रिलिजन ऐंड हिंदू कस्टम्स—श्री सी० कुन्हन राजा; ब्रह्मविद्या, भाग १४ सं० १ [हिंदू धर्म का आचार-पक्ष प्रधानतः याग और मंदिर-पूजा है जिसका मूल लक्ष्य अदृष्ट (सामूहिक कल्याण) है। उसका तत्त्व है लौकिक कृत्यों में भी अदृष्ट फल का स्वीकार। आचार का रूप समयानुकूल बदल सकता है, पर तत्त्व रक्षणीय है।]

हिस्ट्री ऑव मैथमैटिक्स इन इंडिया फ्रॉम जैन सोर्सेज—डा० ए० एन० सिंह; जैन ऐंटिक्वेरी, भाग १५ सं० २ [हिंदुओं के गणित-ज्ञान का सूचक कोई संस्कृत ग्रंथ ई० पाँचवीं शती से पूर्व का उपलब्ध नहीं है। 'धवला'-टीका में लेखक को ऐसे उद्धरण मिले हैं जो ईसा की आरंभिक शतियों में लिखे प्राकृत ग्रंथों के हैं और जैन विद्वानों के विलक्षण गणित-ज्ञान के सूचक हैं।]

समीक्षा

एनुअल बिब्लिओग्राफ़ी आव इंडियन आर्क्योलाजी, ग्रंथ १५—१९४० से १९४७ ई० ; संपादक डाक्टर एफ० डी० के० बाश आदि ; प्रकाशक कर्न इन्स्टिट्यूट, लीडेन ; १९५० ई० ।

लीडेन की सुख्यात कर्न इन्स्टिट्यूट की एनुअल बिब्लिआग्रफ़ी (वार्षिक कृतिसूची) का १५वाँ ग्रंथ गत महायुद्ध के बादलों के पार, नौ वर्ष बाद अब प्रकाशित हुआ है। इसका सहर्ष स्वागत है।

स्वर्गीय महापंडित डाक्टर कर्न के शिष्य विद्वद्वर डाक्टर फोगेल ने भारतीय एवं विशालभारतीय पुरातत्त्व की इस 'एनुअल बिब्लिओग्राफ़ी' का समारंभ किया था। पिछले महायुद्ध में एक बार उनके हत हो जाने का शोकद संवाद फैल गया था। बड़े हर्ष की बात है कि उनकी अध्यक्षता कर्न इन्स्टिट्यूट को प्राप्त है, जिसका यथेष्ट लाभ इस बिब्लिओग्राफ़ी को भी मिलता रहा है। इसके वर्तमान संपादकमंडल के प्रमुख प्रोफेसर डा० एफ० डी० के० बाश और मंत्री संग्रहाधिकारी डा० पी० एच० पाट हैं। इसके उक्त मंडल में भारत के डा० विमलाचरन ला, डा० बहादुरचन्द्र छाबड़ा तथा डा० एच० गएरस और इसके आदरी संपादकों में डा० ए० एस० अल्तेकर, डा० आर० एन० दंडेकर और डा० पी० के० गोडे हैं। इस बिब्लिओग्राफ़ी के ग्रंथों में विभिन्न क्षेत्रों की कृतियों के यथासंभव पूर्ण और प्रामाणिक निर्देश और उनकी भूमिकाओं में उन क्षेत्रों के प्रामाणिक पर्यालोचन प्रस्तुत होते रहे हैं, जिनसे भारतीय एवं विशालभारतीय पुरातत्त्व के अध्ययन-अनुसंधान में ये ग्रंथ बड़े उपादेय सिद्ध हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में १९४० से १९४७ ई० तक के आठ वर्षों की २५८० कृतियों के निर्देश देशानुसार और क्षेत्रानुसार सूचित हैं। इसके भूमिका-भाग के लिये खेद है कि भारतीय पुरातत्त्व विभाग की प्रगतियों का लेखा प्राप्त नहीं हो सका। उस स्थान पर उस विभाग की पत्रिका से अहिच्छत्र और अरिकामेडु पर टिप्पणियाँ हैं। भारत के संबंध में इनके अतिरिक्त पेशावर, सिंधुघाटी के चित्रित

भांडों, बीकानेर के पुरातत्त्व और भारतीय मुद्रातत्त्व पर अधिकारी विद्वानों के किए पर्यालोचन हैं। और फिर इस भूमिका में लंका, परले हिंद और इंडोनेशिया के संबंध के वैसे ही पर्यालोचन हैं। ग्रंथ के अंत में अनुक्रमणिका और परिशिष्ट में अनुसंधानों से संबंधित ८ फोटो-चित्र हैं। गत महायुद्ध की बाधाओं के कारण यह ग्रंथ यथेष्ट भरा-पूरा नहीं हो सका है। फिर भी भारत तथा विशालभारतीय देशों में अनुसंधान के विभिन्न क्षेत्रों में उक्त आठ वर्षों की प्रगतियों का यह बहुत अच्छा परिचायक है।

यह बहूपयोगी 'एनुअल बिब्लिआग्रफी' भारत, सीलोन और इंडोनेशिया की सरकारों की आर्थिक सहायता से प्रकाशित होती रही है। इसके संपादक-प्रकाशक के साथ हमारी आकांक्षा है कि इन सरकारों की उदार सहायता से यह यथेष्ट उपयोगी बनती रहे। परंतु ऐसे प्रकाशन के लिये मौलिक सहायता तो कृतियों की यथासमय सूचनाओं की होती है जिनसे ही यह पूर्ण होता है। इस निमित्त इस बिब्लिआग्रफी के संपादकों का लेखकों, विशेषतः भारतीय लेखकों से बहुत आग्रह है। आशा है उनका यह आग्रह पूरा होता रहेगा और इस बिब्लिआग्रफी के ग्रंथ पूरे उपादेय सिद्ध होते रहेंगे।

होना तो यह चाहिए कि भारतीय तथा विशालभारतीय पुरातत्त्व के विषय में इस देश का सरकारी पुरातत्त्व विभाग और अन्य शोधसंस्थाएं अपना पूरा कर्त्तव्य समझें, ऐसे संग्रह-ग्रंथ तथा सूचीग्रंथ यथासमय प्रस्तुत करते रहें जो प्रामाणिक आकर माने जायँ और देश-विदेश में उक्त विषय के ज्ञान की संवृद्धि करते रहें। अन्य देशों के संबंध में भी अध्ययन-अनुसंधान और प्रामाणिक संग्रह-ग्रंथों के प्रकाशन में अब इस देश की संस्थाओं को यथेष्ट समर्थ बनना चाहिए। हम बहुत आशा करते हैं कि भारत की स्वतंत्र भारती, हिंदी के द्वारा अब यह सब बहुत अल्प काल में ही सिद्ध और प्रमाणित होगा।

हिंदी-जगत् (मासिक)—प्रधान संपादक श्री श्रीकृष्ण शुक्ल; संयुक्त संपादक और प्रकाशक श्री मुकुंददास गुप्त 'प्रभाकर', रेलवे टाइम टेबुल प्रेस, बनारस; वार्षिक चंदा ३)।

'हिंदी-सेवी जीवित व्यक्तियों तथा संस्थाओं का पूरा परिचय देने', 'साहित्य की प्रगति पर भी प्रकाश' डालने, एवं 'हिंदी के संबंध में घटित घटनाओं की

सूचना एवं सुझाव' देने के उद्देश्यों से हिंदी रेलवे टाइम टेबुल के उत्साही प्रकाशक श्री मुकुंददास गुप्त ने श्री श्रीकृष्ण शुक्ल को प्रधान संपादकता में 'हिंदी-जगत्' मासिक पत्र का समारंभ किया है। हिंदी में उसकी प्रगतियों, संस्थाओं व्यक्तियों, के प्रामाणिक परिचय उपस्थित करनेवाले ग्रंथों एवं पत्रों की आवश्यकता बहुत अनुभूत होती रही है। इनकी विरलता से अध्ययन-अनुसंधान में दुष्करता, प्रगति में हीनता रही है। श्री मुकुंददास गुप्त 'हिंदी साहित्य की वार्षिक रिपोर्ट' के रूप में परिचय तथा विवरण के ग्रंथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न वर्षों से करते रहे हैं। अब उस प्रयत्न को मासिक पत्र के द्वारा सफल करना सुकर समझ कर उन्होंने दिसंबर १९४९ से यह 'हिंदी जगत्' चलाया है। यह हर्ष और स्वागत का विषय है।

इस पत्र के प्रथम तीन अंक हमारे समक्ष हैं। प्रथम अंक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के गत अधिवेशन के अवसर पर 'सम्मेलनांक' के रूप में प्रस्तुत हुआ था। अतः वह विशेषतः सम्मेलन की कार्य-प्रगति का परिचायक है। अगले दो अंकों में हिंदी की कुछ संस्थाओं तथा साहित्यकारों के परिचय और कुछ प्रकाशनों तथा प्रगतियों के समाचार प्रकाशित हुए हैं। ये तीन अंक कुछ उपयोगी परिचय तथा सूचनाएँ देते और इस पत्र के संबंध में अच्छा विश्वास उपजाते हैं।

हम सविश्वास आशा करते हैं कि 'हिंदी जगत्' के संपादक-प्रकाशक अपना सत्संकल्प बनाए रहेंगे, देशी-विदेशी साहित्यों के ऐसे प्रकाशनों से स्फूर्ति-संकेत लेते रहेंगे, उनके भी परिचय देते रहेंगे और किन्हीं की उपेक्षा उदासीनता से मंद न पड़ते हुए, कोरे विज्ञापन से बहुत बचते हुए पत्र के उद्देश्यों का यथेष्ट ध्यान रखते, उनका निर्वाह करते रहेंगे। इस प्रकार अवश्य हिंदी साहित्य के इतिहास और प्रगति की उपादेय सेवा बनेगी, एवं सेव्य और सेवक दोनों धन्य होंगे।

—कृ

वैशाली अभिनंदन ग्रंथ—संपादक श्री जगदीशचंद्र माथुर आई० सी० एस०, श्री योगेंद्र मिश्र एम० ए० ; प्रकाशक वैशाली संघ, पो० वैशाली, मुजफ्फरपुर ; डी० चौ० पृष्ठ संख्या २०४ ; १९४८ ई० ; मूल्य १२)

मुजफ्फरपुर (बिहार) के अंतर्गत वर्तमान बसाढ़ ग्राम ही वह प्राचीन वैशाली है जिसके नाम के आकर्षण को प्राचीन भारतीय इतिहास का प्रत्येक प्रेमी भली भाँति अनुभव करता है। स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने यह स्पष्टतः

सिद्ध करके इतिहासज्ञों की आँखें खोल दी थीं कि प्रजातंत्र शासन-पद्धति भारत की बिलकुल अपनी चीज थी। वैशाली का गणतंत्र राज्य उसका एक बहुत चमकता हुआ उदाहरण है। वैशाली और लिच्छवियों के वृजिसंघ की प्रसिद्ध राजधानी थी, जिसकी कार्यप्रणाली और आदर्शों की प्रशंसा भगवान् बुद्ध तक ने की थी। इसके इतिहास में नवीन प्रजातंत्र भारत के लिये स्फूर्ति ग्रहण करने की पर्याप्त सामग्री है। प्रस्तुत अभिनंदन ग्रंथ इसी वैशाली के पुनरुद्धार का एक स्तुत्य प्रयत्न है।

ग्रंथ में वैशाली के संबंध में डा० राधाकुमुद मुकर्जी, डा० बी० सी० ला, डा० आर० सी० मजूमदार, डा० एस० सी० सरकार, डा० ए० एस० अल्तेकर, डा० दिनेशचंद्र सरकार, श्री जयचंद्र विद्यालंकार, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि विद्वानों के महत्त्वपूर्ण लेख हैं। सब मिलाकर ३६ लेख, कविताएँ आदि हैं जिनमें २२ अंग्रेजी के हैं। आरंभ में डाक्टर राजेंद्रप्रसाद की भूमिका और अंत में परिशिष्ट १ में राज्यपाल श्री माधव श्रीहरि अणे का विद्वत्तापूर्ण समावर्तन-भाषण तथा परिशिष्ट २ में वैशाली संघ और महोत्सवों का परिचय है। वैशाली का एक मानचित्र भी दिया गया है। इस प्रशंसनीय प्रयत्न के लिये वैशाली संघ तथा ग्रंथ के संपादकद्वय बधाई के पात्र हैं।

डाक्टर राजेंद्रप्रसाद के शब्दों में "वैशाली का इतिहास केवल राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर का जन्म-स्थल भी है और यहीं पर बौद्ध संघ की द्वितीय संगीति भी हुई थी।······यह ग्रंथ इस गौरवपूर्ण प्रजातंत्र की स्मृति एक बार फिर से जाग्रत् करे", यही हमारी आशा और अभिलाषा है।

श्री सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन (बंबई) द्वारा प्रकाशित दो ग्रंथ—

(१) न्यायावतार वार्तिकवृत्ति—कर्ता श्री शांति सूरि; संपादक श्री दलसुख मालवणिया; सं० २००५ वि०। मूल्य १६॥)

मुनि जिनविजय के प्रधान संपादकत्व में निकलनेवाली सिंघी जैन ग्रंथमाला से हिंदी का विद्वज्जगत् परिचित है। उक्त माला का यह बीसवाँ ग्रंथ जैन दर्शन का बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है।

भारतीय दर्शनों की दो श्रेणियाँ हैं— एक आत्मवादी और दूसरी अनात्म-

वादी। यद्यपि इनके मूल तथा परस्पर संबंध के विषय में मतभेद है तथापि सामान्यतः आत्मवादी दर्शन श्रुतिमूलक हैं, अनात्मवादी श्रुतिविरोधी। अनात्मवादी में एक ओर देहात्मवादी चार्वाक हैं तो दूसरी ओर शून्य अथवा विज्ञानवादी बौद्ध और स्याद्वाद वा अनेकांतवादी जैन, जो अपरोक्त दोनों ही दर्शन प्रायः समकालीन हैं।

न्यायावतार जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की, जो जैन तर्कशास्त्र के आद्य प्रणेता माने गए हैं, छोटी सी श्लोकबद्ध रचना है। उसी पर संस्कृत में ही शांतिसूरि कृत वार्तिक तथा वृत्ति है। प्रस्तुत ग्रंथ में वार्तिक और वृत्ति के पहले मूल सूत्र भी दिए गए हैं। आरंभ में संपादक की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है जिसमें भारतीय चिंताधारा की भूमिका में जैन दर्शन का विकास दिखाया गया है, जो जैन दर्शन के जिज्ञासुओं के लिये अत्युपयोगी है। अंत में तुलनात्मक दृष्टि से उपयोगी टिप्पणियाँ दी गई हैं और १३ परिशिष्ट हैं जिनमें वर्णानुक्रम से शब्दादि सूचियाँ हैं। प्रस्तावना तथा टिप्पणियाँ हिंदी में हैं। आशा है, विद्वान् तथा जिज्ञासुजन इस ग्रंथ का आदर करेंगे।

(२) पउमसिरि चरिउ (पद्मश्री चरित)—जैन कवि धाहिल उपनाम "दिव्यदृष्टि" विरचित अपभ्रंश-भाषा-काव्य; संपादक श्री मधुसूदन मोदी, श्री हरिवल्लभ भायाणी; सं० २००५ वि०। मूल्य ४।।)

पिशल के समय (ई० १९०१) तक हेमचंद्र के व्याकरण में दिए हुए उदाहरणों तथा कतिपय अन्य ग्रंथों में उद्धृत कुछ फुटकर पद्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश का कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं था, न होने की आशा ही थी। परंतु याकोबी द्वारा संपादित भविसयत्तकहा तथा सणंकुमार चरिउ के जर्मनी में प्रकाशन के बाद भारतीय विद्वान् भी अपभ्रंश साहित्य की खोज में दत्तचित्त हुए। श्री चिम्मनलाल डाह्याभाई दलाल को अपभ्रंश के बीसों हस्तलिखित ग्रंथों का पता लगा जिनमें भविसयत्तकहा (की एक पुरानी प्रति) तथा पउमसिरि चरिउ भी थे। भविसयत्त-कहा डा० पांडुरंग गुणे की प्रस्तावना के साथ गायकवाड़ सीरीज में प्रकाशित होकर प्रसिद्ध हो चुकी है। तब से धीरे धीरे अपभ्रंश साहित्य प्रकाश में आता जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ सिंघी जैन ग्रंथमाला का चौबीसवाँ ग्रंथ है। इसके पाठ का संपादन ताड़पत्र पर लिखी एक जीर्ण प्रति से किया गया है जिसका प्रतिलिपि-काल

सं० ११९२ है। आश्चर्य है कि इसके रचयिता ने अपने को महाकवि माघ के वंश का बताकर मातापिता का नाम और अपना उपनाम भी दिया है, परंतु ग्रंथ के रचना-काल का संकेत तक नहीं किया।

काव्य का विषय धार्मिक, पर कहानी लौकिक और वर्णन सरस है। इसमें पद्मश्री नाम की एक श्रेष्ठि-कन्या की कथा है जिसका पूर्वजन्म का नाम धनश्री था, जो विधवा होकर अपने भाइयों के घर सम्मानपूर्वक रहती थी, परंतु जिसने अपनी भौजाइयों पर झूठा कलंक लगाकर गृहकलह उत्पन्न किया था। पद्मश्री को पूर्वजन्मकृत इस पाप का फल भोगना पड़ता है। उसका पति उसे व्यभिचारिणी समझकर त्याग देता है और पीछे उसे चोरी का भी कलंक लगता है। अंत में निश्चल मन से जैन धर्म के पंचमहाव्रत-साधन तथा तप से ध्यान में उसे 'केवल' ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञानाग्नि में कर्मों के भस्म हो जाने से वह यशस्विनी होकर जिन-लोक को जाती है।

इस छोटे से काव्य में चार संधियाँ (सर्ग) हैं। छंद विविध प्रकार के हैं, पर मुख्य पद्धडिका और वदनक हैं।

आरंभ में गुजराती में प्रस्तावना, प्रासंगिक भूमिका तथा काव्य का अनुवाद है, फिर मूल काव्य और अंत में टिप्पणियाँ। मूल काव्य का पाठ संशोधित रूप में दिया गया है जिसका पादटिप्पणियों के रूप में संकेत कर दिया गया है। इन टिप्पणियों में, न जाने क्यों, अंग्रेजी का प्रयोग किया गया है। जो हो, ग्रंथ का संपादन परिश्रम और विद्वत्ता के साथ किया गया है। अपभ्रंश काव्य के प्रेमियों और अध्येताओं के अपनाने योग्य है।

पदुमावती (अंग्रेजी)—संपा० डा० लक्ष्मीधर; प्रकाशक लूजक कं० लि० लंदन; १९४९ ई०। मूल्य २५)

मलिक मुहम्मद जायसी का प्रेमकाव्य पदमावत हिंदी साहित्य का एक चमकता हुआ रत्न है। पं० रामचंद्र शुक्ल की विस्तृत एवं मार्मिक समीक्षा ने इसे हिंदी काव्यप्रेमियों की दृष्टि में पर्याप्त गौरव प्रदान किया है। नागरी और फारसी लिपि में इस ग्रंथ के कई प्रकाशित संस्करणों का पता चलता है, परंतु सबसे पहला सुसंपादित संस्करण बंगाल एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित हुआ (ई० १९११) जिसका सानुवाद संपादन डा० ग्रियर्सन और पं० सुधाकर द्विवेदी ने किया था। पर

यह अधूरा अर्थात् केवल पचीसवें खंड तक प्रकाशित हुआ। सन् १९२४ में यह काशी-नागरीप्रचारिणी सभा से पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित और समीक्षित होकर जायसी ग्रंथावली में प्रकाशित हुआ। १९२५ में लाला भगवानदीन-संपादित पद्मावत (पूर्वार्द्ध) हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से निकला। १९३४ में डा० सूर्यकांत-संपादित मूल पद्मावत अंग्रेजी में, शब्दानुक्रमणी सहित, पंजाब विश्वविद्यालय ने छापा, जो श्री ए० जी० शेरिफ के शब्दों में एक 'दिखावटी' और 'बेकार' चीज है (A showy and useless production)। शेरिफ ने पहले-पहल पूरे ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद १९४४ ई० में एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित कराया। इसमें मूल नहीं केवल अनुवाद है।

इनके बाद प्रस्तुत ग्रंथ है। इसमे चार भाग हैं। प्रथम में सोलहवीं शती की अवधी का अध्ययन, द्वितीय में रोमन लिपि में पद्मावत मूल (केवल खंड २६-३१, विवाह से नागमती-संदेश खंड तक), तृतीय में उसका अंग्रेजी अनुवाद और चतुर्थ में तुलनात्मक और व्युत्पत्तिक शब्दकोश है। अंत में दो परिशिष्ट हैं—एक में आधारभूत ह० लि० प्रतियों का विवरण है, दूसरे में छंदोभग सूची। अपने ढंग पर यह ग्रंथ डा० ग्रियर्सन के ही कार्य की पूर्ति का प्रयत्न है। खेद है, यह भी, संपादक के कथनानुसार कागज आदि की महँगी के कारण, अधूरा ही प्रकाशित हुआ।

इसके पाठ का मूल आधार कॉमनवेल्थ रिलेशंस आफिस (लंदन) के पुस्तकालय में स्थित ११०९ हिजरी की एक फारसी लिपि में हस्तलिखित प्रति है और वहीं की चार अन्य फारसी और एक हिंदी की प्रति तथा सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण से सहायता ली गई है। उक्त प्रतियाँ हमारे सामने नहीं हैं। परंतु सभा के संस्करण से इसमें पाठभेद बहुत हैं—अधिकतर साधारण, अर्थात् शब्दरूप और उच्चारण संबंधी, पर अनेक मौलिक और अर्थभेद उत्पन्न करनेवाले। यथा षट्ऋतु वर्णन खंड में—

पदुमावती	जायसी ग्रंथावली
तोहिं सोहइ यह ससि संसारा।	तोहिं चौंह नहिं ससि उजियारा।
ससि सो कलंकी राहुहिं पूजा।	ससि सकलंक रहै नहिं पूजा।

इसमें संदेह नहीं कि ग्रंथ का संपादन और मुद्रण काफी परिश्रम और सावधानी के साथ किया गया है, यद्यपि मुद्रण में कहीं कहीं ऐसे स्खलन मिलते हैं—लगन धरी औ रची बियाहू (पृष्ठ ३३ पंक्ति १ में रचा है)। व्याकरण-रूपों के

जो प्रत्यय तथा पद के उदाहरण दिए हैं उनके साथ उनके प्रयोग-स्थल का निर्देश न होने से कहीं कहीं मन में संदेह रह जाता है। यथा पृ० २० पर क्रिया के उ० पु०, ए० व०, भविष्यत् कालिक रूप का प्रत्यय 'इउ' (तजिउं) दिया है जो वस्तुतः भूतकालिक है। पृ० २५ पर पुं०, ए० व०, भूत कृदंत के रूप दिए हैं—'किया, दिया', जो अवधी में दुर्लभ हैं। किंतु इस प्रकार के उदाहरण विरल हैं। अनुवाद में और अधिक सावधानी और स्पष्टता अपेक्षित है। साधारणतः संपादन सफलतापूर्वक हुआ है। आशा है ग्रंथ का शेष अंश भी शीघ्र प्रकाशित होगा।

—चित्रगुप्त

समीक्षार्थ प्राप्त

कृष्णजी की प्रेमलीलाएँ—ले० श्री जगतनारायण; प्रकाशक नारायण प्रकाशन मंदिर, थियासाफिकल सोसायटी, बनारस। मूल्य १)

खुराक की कमी और खेती—ले० श्री मोहनदास करमचंद गाँधी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मू० २॥)

गणित के जादू खेल—ले० श्री सोहनलाल गुप्त, एम०, ए०, एम० एस० सी०; प्रकाशक शांति पुस्तक भंडार, कनखल। मू० ॥≈)

धारा—ले० श्री कुमारशर्मा; प्रकाशक बैजनाथ ऐंड कं०, गिरिडीह। मू० २।)

मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प—ले० स्वामी आत्मानंद सरस्वती; प्रकाशक मोतीराम प्रकाशन विभाग, गुरुकुल, पोठोहार। मू० १॥)

रागिनी—ले० श्री भगत व्रजद्रकुमार "मधुकर"; प्रकाशक हिंदीप्रचारिणी सभा, बारानयरी, मारीशस। मू० ।॥)

राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण—ले० श्री किशोरीदास वाजपेयी; प्रकाशक जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता। मू० ४)

सरदार पटेल के भाषण—संपादक श्री नरहरि द्वारकादास परीख, श्री उत्तमचंद दीपचंद शाह; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मू० ५)

स्वप्रभंग—ले० श्री होमवती देवी; प्रकाशक निष्काम प्रेस, मेरठ। मू० २)

हिंदी निरुक्त—ले० श्री किशोरीदास वाजपेयी; प्रकाशक जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता। मू० २।)

विविध

राष्ट्रभाषा

हमारा उत्तरदायित्व और कर्तव्य

पिछले अंकों में (वर्ष ५४, अंक १ पृष्ठ ८५, अंक २-३ पृष्ठ २४४) हमने यह उल्लेख किया था कि अवसर और स्थिति हिंदी के अनुकूल है और निकट भविष्य में नागरी हिंदी का भारत की यथार्थ भारती सिद्ध होना हिंदीभक्तों एवं भारतभक्तों की सद्बुद्धि एवं सदुद्योग के अधीन है तथा हमारी सर्वमुख सजगता और तत्परता से ही सफलता निकटतर आएगी। संतोष का विषय है कि अवसर की गंभीरता और महत्त्व का सभी ओर अनुभव किया गया और व्यक्तियों, संस्थाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं का ध्यान लक्ष्यसिद्धि की ओर विशेष रूप से गया है। यद्यपि अभी मार्गानुसंधान के प्रयत्न के अतिरिक्त किसी व्यापक योजना और नियत विधि के अनुसार कार्य आरंभ होने को, जिसकी अपेक्षा विशेषत: केंद्रीय एव प्रादेशिक सरकारों तथा प्रमुख साहित्य-संस्थाओं से की जाती है, स्पष्ट सूचना हमें नहीं है तथापि प्रवृत्ति और प्रयत्न अभीष्ट दिशा में हैं और आशा है, ऐसी सुनिश्चित योजना एवं विधि भी प्रस्तुत होने में विलंब न लगेगा जिसमें कार्योत्साही व्यक्तियों की प्रतिभा और योग्यता का तत्तत् कार्यों में समुचित उपयोग हो सके।

हमारे सामने अकस्मात् कार्य का इतना विशाल और विस्तृत क्षेत्र खुल गया है जिसकी कहीं सीमा नहीं दिखाई देती, और सभी कार्य इतने आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं कि किसी में अत्यल्प भी विलंब सह्य नहीं, तथा आरंभ कहीं से भी किया जा सकता है। परंतु योजना- और विधिपूर्वक किया हुआ कार्य ही शीघ्र और सरलतापूर्वक तथा उत्तम और स्थायी होता है। इसके लिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि हम अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य को भली भाँति समझकर केवल तत्त्व की बातों पर ही अपना ध्यान केंद्रित करें। इस संबंध में हम इसी अंक में पृष्ठ १०९ पर उद्धृत राष्ट्रपति डाक्टर राजेंद्रप्रसाद के भाषण की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं जिसमें

राष्ट्रभाषा-साहित्य को संपन्न और समुन्नत बनाने के लिये बहुत स्पष्ट शब्दों में वास्तविक स्थिति को लक्ष्य कर पथनिर्देश किया गया है और जिसको संप्रति किसी भी व्यापक साहित्य-योजना के निर्माण के समय ध्यान में रखना अनिवार्य होना चाहिए। हमें हर्ष है कि यह समयोपयुक्त पथनिर्देश ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया है जिसकी हिंदीभक्ति और भारतभक्ति तो संदेह और विवाद के परे की वस्तु है ही, साथ ही राष्ट्रपति होने के नाते जिसके ऊपर दोनों के कल्याणसाधन का महान् उत्तरदायित्व है और जो राजभाषा के रूप में हिंदी की प्रतिष्ठा के लिये अपने अधिकार से बहुत कुछ करने में समर्थ है।

भारत की सांस्कृतिक भाषा

इस प्रसंग में हमें यह भी स्मरण रखना है कि हिंदी को शीघ्रातिशीघ्र केवल राजभाषा की योग्यता ही नहीं प्राप्त करनी है, उसे वास्तविक अर्थ में भारती, भारत के हृदय की वाणी, भारत की राष्ट्रभाषा बनना है। दुर्भाग्यवश इस विषय में हिंदीभाषियों का प्रयत्न प्रायः संदेह की दृष्टि से देखा गया है परंतु अहिंदीभाषी विद्वानों के विषय में हिंदी के पक्षपात का आरोप नहीं किया जा सकता। अतः इस संबंध में उनका कथन विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने हिंदी को उसकी ऐतिहासिक परंपरा के अधिकार से भारत की संस्कृतिवाहिनी भाषाओं में 'समानासु प्रथमा' कहा है और उसे ऐसी योग्यता प्रदान करने का हमारा उत्तरदायित्व भी बतलाया है (पत्रिका वर्ष ५४, अंक २-३, पृष्ठ २०५)। प्रस्तुत अंक में भारतीय साहित्य और संस्कृति के मर्मज्ञ श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का 'भारतीय साहित्य की एकता' शीर्षक लेख उद्धृत है (पृ० ३१५), जिसमें उन्होंने हिंदी को केवल व्यवहार की भाषा न बनाकर संपूर्ण भारत के सांस्कृतिक विनिमय तथा सौंदर्य-दर्शन की व्यापक भाषा बनाने और राष्ट्रसंघ द्वारा स्वीकृत विश्व की प्रमुख भाषाओं के साथ उसे प्रतिष्ठित कराने के विषय में बहुत सुंदर ढंग से अपने विचार व्यक्त किए हैं, जो प्रत्येक भारतीय साहित्यकार के लिए मननीय हैं।

शासकीय उद्योग

समाचारपत्रों की सूचना के अनुसार, राष्ट्रभाषा हिंदी को राजभाषा-पद पर आसीन कराने के संबंध में संघ शासन अपने कर्तव्य से सर्वथा उदासीन नहीं है और विविध दिशाओं में कुछ न कुछ प्रयत्न हो रहे हैं। डाक-तार विभाग द्वारा

डाक-कर्मचारियों को हिंदी की शिक्षा देने और इसके लिये विभिन्न डाक-केंद्रों में हिंदी के विशेष विद्यालय खोलने की व्यवस्था की जा रही है। हिंदी में तार देने की सुविधा देने के संबंध में हमने गत अंक (विविध, पृष्ठ २४४) में हिंदी के तार-क्षेत्रों के अधिकाधिक विस्तार की आवश्यकता का उल्लेख किया था। संभवतः शासन की ओर से देश भर में उक्त प्रकार की सुविधा देने की व्यवस्था की जा रही है।

यह भी निश्चय हुआ है कि अब संसद् का कार्यविवरण हिंदी में भी प्रकाशित हुआ करेगा।

केंद्रीय शिक्षा-परामर्श-मंडल ने हिंदी को लोकप्रिय बनाने तथा विशेष रूप से अहिंदी प्रांतों में हिंदी के प्रचार के लिये केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय को विभिन्न उपाय सुझाए हैं और उन्हें यथासंभव कार्यान्वित करने का अनुरोध किया है। यथा—(१) सर्वसाधारण के प्रिय विषयों पर हिंदी में सस्ती और आकर्षक पुस्तकें प्रकाशित की जायँ। (२) ग्रामोफोन के ऐसे रिकार्ड तैयार किए जायँ जिससे लोग बिना शिक्षक के हिंदी सीख सकें। (३) जनसाधारण तथा विद्यालयों के लिये रेडियो पर हिंदी-शिक्षा के पाठ दिए जायँ। (४) अधिक संख्या में हिंदी के चलचित्र बनाए जायँ और हिंदी के मनोरंजन चलचित्रों में सुधार किया जाय। (५) केंद्रीय शासन के कर्मचारियों की हिंदी की योग्यता की परीक्षाएँ ली जायँ और सफल परीक्षार्थियों को पुरस्कार दिए जायँ। (६) केंद्रीय शासन विभाग की प्रतियोगिता परीक्षाओं में हिंदी की परीक्षा भी सम्मिलित की जाय, पर अहिंदी-भाषी राज्यों के परीक्षार्थियों के लिये वह बाधक न बने।

केंद्रीय शासन ने प्रांतीय सरकारों को अपने विद्यालयों में हिंदी की शिक्षा अनिवार्य कर देने का अनुरोध किया है। मदरास सरकार ने तो इसी वर्ष से ऐसा करने का पहले ही निश्चय कर लिया था। अन्य राज्यों में, आशा है, इसकी व्यवस्था शीघ्र की जायगी।

निश्चय कार्यान्वित हों

उपर्युक्त सूचनाओं से शासन के, अनुकूल निश्चयों और संकल्पों का पता चलता है। किंतु अभीष्ट प्रगति के लिये उन निश्चयों और संकल्पों का शीघ्र कार्यान्वित होना आवश्यक है। इसमें कठिनाइयाँ आएँगी, परंतु उनके भय से कार्य को टालते चलने से वे कभी दूर नहीं हो सकतीं, वे तो दृढ़तापूर्वक कार्य करने

से ही दूर होगी। हिंदी के राजभाषा स्वीकृत हो जाने के बाद भी, जब तक केंद्रीय कार्यों में इसका व्यापक रूप से व्यवहार नहीं होने लगता तब तक, न केवल हमारी प्रगति में ही बाधा पड़ेगी, प्रत्युत सभ्य राष्ट्रों की दृष्टि में हम उपहासास्पद भी बने रहेंगे।

भारतेंदु-जन्मशती अंक

आगामी ३१ भाद्रपद सं० २००७ (१६ सितंबर १९५०) को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा हिंदी के आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र की जन्मशती मनाने का आयोजन कर रही है। इस आयोजन के विविध अंगों में, उस अवसर पर नागरीप्रचारिणी पत्रिका का एक विशेष अंक 'भारतेंदु-जन्मशती अंक' के नाम से निकालने का निश्चय किया गया है। तदनुसार पत्रिका का आगामी अंक 'भारतेंदु-जन्मशती अंक' होगा।

इस थोड़े समय में ही हमें इस विशेषांक को यथासंभव सुंदर और सर्वांगपूर्ण बनाना है। हमारा विचार इसे निम्नलिखित विषयों की लेखादि सामग्री से सज्जित करने का है—

(१) भारतेंदु का जीवनवृत्त, व्यक्तित्व, स्वभाव आदि।

(२) आलोचना—नाटक, निबंध, कविता, भाषा और शैली, जीवनदृष्टि, रचनाओं के प्रधान विषय, भारतेंदुयुग की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ।

(३) चयन—कविता, निबंध, पत्र, संस्मरण।

(४) भारतेंदु-साहित्य-सूची।

हमें पूरी आशा है कि इसे सफल बनाने के हेतु बहुत शीघ्र हमें विद्वानों तथा भारतेंदु के प्रेमियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

'पत्रिका' की परिवर्तन-सूची, सं० २००६

हिंदी

अदिति	पांडिचेरी
अभिनय	कलकत्ता
अर्जुन	दिल्ली
आगामीकल	खँडवा
आज (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	काशी
आर्यमार्तंड	अजमेर
कर्मवीर	खँडवा
कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर
किशोर	पटना
जनवाणी	काशी
जीवन साहित्य	नई दिल्ली
जैन सिद्धांत भास्कर	आरा
ज्ञानोदय	काशी
दीदी	प्रयाग
दीपक	अबोहर
धर्मदूत	सारनाथ
भारत (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	प्रयाग
भारतीय विद्या	बंबई
माधुरी	लखनऊ
लोकमान्य	कलकत्ता
विशाल भारत	कलकत्ता
विश्वदर्शन	दिल्ली
विश्ववाणी	प्रयाग

वीणा	इंदौर
वेंकटेश्वर समाचार	बंबई
वैदिक धर्म	औंध
व्रजभारती	मथुरा
शिक्षा	इलाहाबाद
शुभचिंतक	जबलपुर
शोध पत्रिका	उदयपुर
संगीत	हाथरस
सचित्र आयुर्वेद	कलकत्ता
सरस्वती	इलाहाबाद
सार्वदेशिक	दिल्ली
साहित्य संदेश	आगरा
सैनिक	आगरा
स्वतंत्र भारत	लखनऊ
हंस	काशी
हरिजन सेवक	अहमदाबाद
हिंदुस्तानी प्रचार	मद्रास
हिमालय	पटना

अँगरेजी

अद्यार लायब्रेरी बुलेटिन	अद्यार
इंडियन पी० ई० एन०	बंबई
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली	कलकत्ता
एनल्स आव ओरिएंटल रिसर्च आव दि युनिवर्सिटी आव मद्रास	मद्रास
एनल्स आव द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
एनल्स आव द श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टिट्यूट	तिरुपति
ऐनुअल बिब्लियाग्रफी आव इंडियन आर्क्यालाजी	लाइडन (हालैंड)
जर्नल आव दि इंडियन हिस्ट्री	त्रिवेंद्रम
जर्नल आव ओरिएंटल रिसर्च	मद्रास
जर्नल आव द बांबे ब्रांच आव रायल एशियाटिक सोसायटी	बंबई

जर्नल आव द बिहार रिसर्च सोसायटी	पटना
जर्नल (कार्टर्ली) आव द मीथिक सोसायटी	बंगलौर
थियासाफिस्ट	काशी
दि जैन एंटिक्वेरी	आरा
बुलेटिन आव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज	लंदन
हार्वर्ड जर्नल आव एशियाटिक स्टडीज	कैंब्रिज (मसाचुसेट्स)

अन्य

केसरी (मराठी)	पूना
बुद्धिप्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
भारत इतिहास संशोधक मंडल पत्रिका (मराठी)	पूना

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५४, संवत् २००६

संपादक : कृष्णानंद
सहायक संपादक : पुरुषोत्तम

समीक्षा

विविध

नंददास-ग्रंथावली

(संपादक—श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल० एल० बी०)

अष्टछाप के कवियों में नंददासजी का स्थान उनकी प्रेम-भक्ति की साधना और काव्यसौष्ठव के कारण बहुत ऊँचा है। इस संग्रह में उनके समस्त उपलब्ध ग्रंथों का प्रामाणिक पाठ, आवश्यक पाद-टिप्पणियों सहित दिया गया है। आरंभ में लगभग १५० पृष्ठों की विशद प्रस्तावना, अब तक हुए शोध एवं महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित सामग्री के आधार पर लिखी कवि की जीवनी तथा उनकी सगुणोपासना की विस्तृत व्याख्या के साथ उनकी प्रत्येक रचना का समीक्षात्मक परिचय दे दिया गया है। मूल्य ५)

गोस्व... ...षिक विभिन्न
संस्करण नि... ...मस के शुद्धतम
पाठ की आ... ...क नहीं हो पाई
है। प्रस्तुत सं... ...० सं० १७२१,
सं० १७६२... ...श्रावण-
कुंज, राजापु... ...साधकों
से सहायता... ...निर्दिष्ट
की गई है... ...ये यह
ग्रंथ परमोप...

गो... ...सम्मत"
कहकर अप... ...चनाओं
में आदि से... ...करके
विद्वान् लेख... ...प्रसंगात्
प्रारंभिक का... ...हित्य की
धारावाहिक... ...में है।
मूल्य प्रति...